ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

DP-8

वैदिक वाग् ज्योतिः
Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed Research Journal
on Vedic Studies

Vol./ वर्ष-4 July-December 2016 No./ अंक 7

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
July-December 2016

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed Research Journal on Vedic Studies

Patrons

Dr. Ram Prakash, Chancellor
Dr. Surendra Kumar, Vice Chancellor

Advisory Board

Prof. B.L. Bharteeya, Rajasthan
Dr. Rajendra Ayurvedalankar, Haridwar
Dr. Vinod Chandra Vidyalankar, Jwalapur
Prof. Maan Singh, Roorkee
Prof. Shashi Tiwari, Delhi
Prof. Lekhram Sharma, Amritsar
Prof. Suneel Joshi, Haridwar
Prof. Ishwar Bhardwaj, Haridwar
Prof. Somdev Shatanshu, Haridwar
Prof. Nicholas Kazanas, Athens (Greece)
Prof. Bheem Singh, Kurukshetra
Prof. Rajendra Vidyalankar, Kurukshetra
Prof. Vedpal (Meerut)
Prof. Kamlesh Chaukashi, Ahamedabad, Gujrat
Prof. Renubala, Amritsar
Prof. Vikram Kumar Viveki, Chandigarh
Prof. Kishnaram Bishnoi, Hissar
Prof. M.R. Verma, Haridwar
Prof P.C. Joshi, Haridwar
Prof. R.C. Dubey, Haridwar
Prof. Pankaj Madan, Haridwar
Prof. L.P. Purohit, Haridwar
Dr. Aparna Dhir, New Delhi

Departmental Advisory Board

Prof. Roopkishor Shastri
Prof. Manudev Bandhu

Distinguished Advisors

Acharya Balkrishna, V.C. Patanjali University
Prof. P.K. Dixit, V.C. U.S. University

Chief Editor

Prof. Dinesh Chandra Shastri
Head, Dept. of Veda, GKV, Haridwar-249404 (U.K.) India
Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91-9410192541

Reviewers

Prof. V.K. Mishra, Shimla
Prof. M.M. Pathak, Gorakhpur

Finance Advisor

Sh. R.K. Mishra, F.O.
Sh. Shashi Kant Sharma, ACMA

Business Manager

H.O.D. Veda & Librarian
GKV, Haridwar - 249 404 (Uttarakhand) India

Subscription

Rs. 200.00 Annual, US $ 20, Single Copy: Rs. 100.00
Rs. 1000.00 Five Year's
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. Vinod Kumar
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Printed at

D.V. Printers
97-U.B., Jawhar Nager, Delhi-110007
Mob.: 09990279798, 09818279798

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed Research Journal
on Vedic Studies

Vol./वर्ष-4 July–December 2016 No./अंक 7

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

स॒प्त यु॑ञ्जन्ति॒ रथ॒मेक॑चक्र॒मेको॒ अश्वो॑ वहति स॒प्तना॑मा।
त्रि॒नाभि॑ च॒क्रम॒जर॑मन॒र्वं यत्रे॒मा विश्वा॒ भुव॒नाधि॑ त॒स्थुः।। ऋ. १/१६४/२

पदार्थः—(सप्त) (युञ्जन्ति) (रथम्) विमानादियानम् (एकचक्रम्) एकं सर्वकला-भ्रमणार्थं चक्रं यस्मिन् तम् (एकः) असहायः (अश्वः) आशुगामी वायुरग्निर्वा (वहति) प्रापयति (सप्तनामा) सप्त नामानि यस्य (त्रिनाभि) त्रयो नाभयो बन्धनानि यस्मिन् (चक्रम्) चक्रम् (अजरम्) जरादिरोगरहितम् (अनर्वम्) प्राकृताश्वयोजनरहितम् (यत्र) (इमा) (विश्वा) अखिलानि (भुवनानि) लोकाः (अधि) (तस्थुः) तिष्ठन्ति।।

अन्वयः—यत्र एकचक्रं रथं सप्तनामा एकोऽश्वो वहति यत्र सप्त कला युञ्जन्ति यत्रेमा विश्वा भुवनाऽधितस्थुस्तत्राऽनर्वमजरं त्रिनाभिचक्रं शिल्पिनः स्थापयेयुः।।

भावार्थः—ये विद्युदग्निजलाद्यश्वयुक्तं यानं विधाय सर्वलोकाऽधिष्ठान आकाशे गमनाऽ-गमने सुखेन कुर्य्युस्ते समग्रैश्वर्यं लभेरन्।।

पदार्थः—(यत्र) यहां (एकचक्रम्) एक सब कलाओं के घूमने के लिये जिसमें चक्कर है उस (रथम्) विमान आदि यान को (सप्तनामा) सप्त नामों वाला (एकः) एक (अश्वः) शीघ्रगामी वायु वा अग्नि (वहति) पहुँचाता है वा जहां (सप्त) सात कलों के घर (युञ्जन्ति) युक्त होते हैं वा जहां (इमा) ये (विश्वा) समस्त (भुवना) लोकलोकान्तर (अधि, तस्थुः) अधिष्ठित होते हैं वहां (अनर्वम्) प्राकृत प्रसिद्ध घोड़ों से रहित (अजरम्) और जीर्णता से रहित (त्रिनाभि) तीन जिसमें बन्धन उस (चक्रम्) एक चक्कर को शिल्पी जन स्थापन करें।।

भावार्थः—जो लोग बिजुली और जलादि रूप घोड़ों से युक्त विमानादि रथ को बनाय सब लोकों के अधिष्ठान अर्थात् जिसमें सब लोक ठहरते हैं उस आकाश में गमनाऽगमन सुख से करें वे समग्र ऐश्वर्य को प्राप्त हों।।

द.भा.

वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

क्र.सं.	*विषय*	*पृ.सं.*
	वैदिक वाक्	*iii*
	सम्पादकीय- हिंसा के वैदिक-रूप की वर्तमान में आवश्यकता	*vii-xvi*

हिन्दी-सम्भाग

1.	**अथर्ववेद संहिता के पाठालोचन कार्य में ह्विटनी की भूमिका** –कृष्णकान्त शास्त्री	1-19
2.	**जीवात्म-सम्बन्धी वैदिक चिन्तन एवं विभिन्न दृष्टिकोण** –प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री	10-33
3.	**वैदिक दार्शनिक परम्परा में वाग्दर्शन** –विकास शर्मा	34-50
4.	**श्री अरविन्द-अभिमत राष्ट्रीय शिक्षा** –डॉ. सुषमा अलंकार	51-64
5.	**मन्त्र और उसकी अवधारणा तथा मानव शरीर से सम्बन्ध** –डॉ. कैलाश नाथ तिवारी	65-86
6.	**वेदों में मानवाधिकार** –मधुसूदन आर्य	87-90
7.	**मानवीय आचरण के उत्थान में वैदिक देवताओं की भूमिका** –डॉ. विशाल भारद्वाज	91-95
8.	**व्रत एवं उपवास का तात्त्विक विवेचन** –डॉ. नारायण प्रसाद भट्टराई	96-103
9.	**योग द्वारा विद्यार्थियों में स्मृति क्षमता का विकास** –डॉ. ईश्वर भारद्वाज, डॉ. ऊधम सिंह	104-111
10.	**श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में पुनर्जन्म** –डॉ. अरुण कुमार सिंह, डॉ. सुरेन्द्र कुमार	112-118

11. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में योगासनों के शिक्षण-सिद्धान्त व उनकी उपादेयता 119–124
—डॉ. राकेश गिरि, जयदेव, जन्मेजय

संस्कृत संभागः

12. उपनिषत्सु मूल्यपरकशिक्षायाः अवधारणा 125–131
—प्रो. राम सुमेर यादव

13. वैदिकवाङ्मये रुद्रस्य स्वरूपम् 132–137
—डॉ. रणजित बेहेरा

English Section

14. Vedic Religion : Central Aspects 138-147
-Dr. Shashi Tiwari

15. Concept of Puruṣa (Akāl Purush) as God in the Vedas and the Śri Guru Granth Sāhib 148-152
-Prof. Roop Kishor Shastri

16. Sources of Vedic Economy in the Brāhmaṇas of Yajurveda : Some Observations 153-160
-Dr. Aparna Dhir

17. A review : Relevance of Ṣat-chakra on Life style disorder disease -Nishkarsh Sharma 161-169

18. Book - Review 170-173
-Dr. Shashi Tiwari

19. पत्र एवं सम्मतियां 174-175

✦✦✦

सम्पादकीय

हिंसा के वैदिक-रूप की वर्तमान में आवश्यकता

वर्तमान में नर पिशाच आतंकवादियों ने पूरी दुनियां में तबाही मचायी हुई है। कश्मीर में प्रतिदिन हिंसा का खुला ताण्डव कर रहे हैं। अभी हाल में ही उत्तरी कश्मीर में उड़ी स्थित भारतीय सेना के कैम्प पर फिदायीन हमला कर 15 सैनिकों की निर्मम हत्या कर दी। अनेकों लोगों को घायल कर दिया। जिनकी स्थिति नाजुक बनी हुई है। इससे पूर्व भी इस तरह की कायराना हरकतें पाकिस्तान की शह पर अतंकवादी कर चुके हैं। अतीत में चीन भी भारत के साथ धोखाकर हमारे 22000 वर्गमील के भूभाग को हड़प चुका है। अत: इस समय भारतीय जानता का मानस पटल बहुत दोलायमान है, संशय में है। यदि वेदादि शास्त्रों में कही हुई अहिंसा पर आचरण करते हैं तो जीवन में कई बार दुर्गति, अपमान और कष्ट उठाना पड़ता है। कई बार तो अपनी सम्पत्ति, सन्तान और जीवन से भी हाथ धोना पड़ता है।

अहिंसा को छोड़कर यदि हिंसा में प्रवृत्ति करते हैं तो, धर्म विरुद्ध होने से मन में दु:ख उत्पन्न होता है और जीवन पापमय और अधर्मयुक्त हो जाता है। ऐसे गूढ़ विषय पर बड़े-बड़े लोगों को भी भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि अहिंसा और हिंसा इन दोनों में से वे कौन-सा मार्ग अपनायें, जिससे जीवन भी दु:खमय न हो और अधर्म भी न हो। इस सम्पादकीय लेख में इसी बात की विवेचना की गई है कि वैदिक धर्म इन दोनों का सच्चा स्वरूप क्या बताता है और कौन-सा मार्ग अपनाने का आदेश करता है।

योगदर्शन के व्यास भाष्य में 'अहिंसा' का लक्षण करते हुए व्यासमुनि ने लिखा है– 'सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह:' अर्थात् किसी भी प्राणी से वैरभाव न रखना अहिंसा है। जब किसी से वैर करना ही बुरा माना है तो मन, वाणी और शरीर से किसी का अनिष्ट चिन्तन करना, किसी को सताना, दु:खी करना अथवा हत्या आदि करना तो बहुत ही बुरा है। दूसरे शब्दों में अहिंसा का अर्थ यह है कि वैर को छोड़कर सबसे प्रेम करना और सबका कल्याण, करना। अब इसके सम्बन्ध में वेदादि शास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। यजुर्वेद में प्रार्थना है कि–

(1) हे परमात्मन्! मेरा मन शिव-कल्याण (भलाई) के संकल्पों वाला हो-तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु (34.1-6)

(2) सब मनुष्यों और पशुओं का कल्याण हो-शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे (36.8)

(3) हे परमात्मन्! यह सारा जगत् नीरोग और शुभ मान वाला हो-सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् (16.4)

(4) हे परमात्मन्! मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ-मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे (36.18)

इस प्रकार के वेद मन्त्रों में वैर त्यागकर सब प्राणियों के साथ प्रेम करने और उनके प्रति कल्याण का भाव रखने को जो विचार है यही अहिंसा है और इसी में संसार ओर मानव-समाज का कल्याण है। विश्व के प्रथम धर्मशास्त्र 'मनुस्मृति' में लिखा है कि-

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् (2/159)

नारुन्तुदः स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः (2/161)

अर्थात् 'प्राणियों का कल्याण करने की कामना से अहिंसा द्वारा ही अनुशासन करना चाहिए।' 'स्वयं दुःखी होते हुए भी किसी के मन को चुभने वाली बात न कहे तथा दूसरों के प्रति द्वेष-बुद्धि वाला नहीं होना चाहिए।'

इसी प्रकार महाभारत में भी अहिंसा को परम-धर्म, परम दान और परम तप माना गया है–

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परमो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥ (अनु. पर्व 116/28)

योगदर्शन में उपासना आरम्भ करने वाले के लिए पांच यमों का सेवन करना आवश्यक लिखा है। उन पाँच यमों में अहिंसा पहला यम है। यदि अहिंसा जीवन में न होगी तो उपासना सफन नहीं हो सकती।

ये उक्त थोड़े से प्रमाण हमने पाठकों के सामने रखे हैं। वैसे तो सब शास्त्र मनुष्य-कल्याण के लिए अहिंसा को बड़ा भारी महत्त्व देते हैं इसी पर मनुष्य-समाज की रक्षा, कल्याण और सुख आश्रित है। यदि इस भावना को निकाल दिया जाय तो मनुष्य मात्र घोर संकट और दुःखसागर में डूब जायेगा।

वेद में जहां सबको मित्र की दृष्टि से देखने का विधान है वहां जगत् को हानि पहुंचाने वाले प्राणियों को यथायोग्य दण्ड देने और कई अवस्थाओं में उसका वध करने का भी वर्णन आता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर ऐसे ही भाव को लेकर कहा गया है–'विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु' (7.104.24)। यदि वेद में इस प्रकार शासक के लिए व्यवस्था न हो तो चोर, डाकू, लुटेरे और हत्यारे अपनी दुष्टता के करण प्रजा का नाश और हानि से संसार को दुःख का सागर बना देंगे।

यजुर्वेद में आता है कि राक्षस स्वभाव वाले और लुटेरे मनुष्यों को जला दो–'प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टं अरातयः' (1.7)। वेदों में अन्यत्र भी इसी प्रकार के भाव प्राप्त होते हैं, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं–

(1) हे वीर! हमारे शत्रुओं का नाश कर, जो हमारे ऊपर आक्रमण करते हैं उनको नीचा दिखा, जो हमारा क्षय अर्थात् विनाश करना चाहते हैं उन्हें घोरतम अन्धकार में फैंक

दे–'वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यो अस्मान् अभिदासत्यधरं गमया तमः (यजु. 8.44)।

(2) दुःख पहुंचाने वाले तथा विद्वानों की हिंसा करने वाले, असुर मनुष्यों को यहाँ से दूर भगा दो–'अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः' (यजु. 35.1)।

(3) देवों (धर्मात्माओं) को अपने बल से, दुष्टों के बल को क्षीण करना चाहिये–'येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीध्वम्' (अथर्व. 6.7.3)

(4) उल्लू, कुत्ता, बाज, भेडिया और गिद्ध आदि की प्रकृति वाले मनुष्य जो संसार में दूसरों को पीड़ा पहुंचाते, लूट-खसोट मचाते और असहायों को दबोचते हैं, उनका भी नाश करना चाहिए–'उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहिश्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र' (7.104.22)

(5) ऋग्वेद के 7/104 सूक्त में ही आता है कि जो डाकू-लूटेरे दूसरों की हिंसा करते हैं, ऐसे मूरदेव (डाकुओं) को चाहे वे स्त्री हों अथवा पुरुष फांसी देनी चाहिये। 'मूरदेव' पद जो यहां आया है इसका अर्थ यह है कि, मारकाट और लूट ही जिनका देवता अर्थात् लक्ष्य है ऐसे डाकुओं के लिए इसी मन्त्र में 'विग्रीवासः' पद लिखा है; जिसका अर्थ यह है कि इस प्रकार के डाकुओं की ग्रीवा अर्थात् गर्दन तलवार से अलग कर दे। यही देश के शासक का धर्म है। इसी सूक्त के 7वें मन्त्र में आता है कि हे इन्द्र! और हे सोम! द्रोह करने वाले और सदा ही तोड़फोड़ का काम करने वाले राक्षस पुरुषों को मारिये–

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुतस्त्रियं मायया शाशदानाम्।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम्।।24।।

.....हतं द्रुहो रक्षसो भंगुरावतः।।7।।

अहिंसा की प्रशंसा में हमने मनुस्मृति का प्रमाण ऊपर दिया है जिसमें लिखा है कि अहिंसा से ही सब भूतों का कल्याण होता है। इस बात को मानते हुए भी आदि धर्मशास्त्रकार मनु महाराज ने भी मनुष्यों की प्रकृतियों का अनुभव करते हुए अनेक प्रकार के दण्डों (Punishments) का विधान किया है। मनुस्मृति में लिखा है कि जिस राजा के राज्य में चोर और डाकुओं से डरी हुई प्रजा चिल्लाती रहती है, वह राजा जीता हुआ ही मरा हुआ है–

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्भ्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति।। (7.143)

मनुस्मृति के सातवें अध्याय में ही लिखा है कि दण्ड ही सब प्रजा के ऊपर शासन करता है; दण्ड ही सबकी रक्षा करता है और दण्ड सोए हुओं में जागता है। इसीलिए बुद्धिमान् लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं। इसी अध्याय में आगे कहा है कि बिना दण्ड

के सब वर्ण दूषित और सब मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। जिस देश में पाप को नाश करने वाला, काली और लाल आँखों वाला दण्ड विचरता है, वहाँ प्रजा मोह को प्राप्त न होकर अनन्दित होती है–

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ (7.18)

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति॥ (7.25)

मनु महाराज ने आततायी का वध करने में कोई दोष नहीं लिखा। अपितु वे तो यहां तक लिखते हैं कि यदि आततायी आक्रमण करने आए तो उसको बिना विचारे ही मार डालना चाहिये–

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ (8.350)

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥ (8.351)

मनु ने आग लगाने वाले, विष देकर मारने वाले, हाथ में शस्त्र लेकर वार करने वाले, भूमि पर बलपूर्वक कब्जा करने वाले तथा स्त्रियों को उठाकर ले जाने वाले-इन छः प्रकार के पुरुषों को आतंकवादी कहा है।

इस प्रकार दण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड देने में मनु महाराज हिंसा नहीं मानते। यदि दोषी को दण्ड न दिया जाय तो वह अहिंसा हानिकर होगी और संसार में दुःख का कारण बनेगी।

आर्यजाति में श्रीराम और श्रीकृष्ण महाराज को आदर्श पुरुष माना जाता है। ये दोनों भी अहिंसा को आदर्श मानते थे, परन्तु मानव समाज की रक्षा के लिए दुष्टों के दलन करने के लिए कई अवसरों पर इन्होंने भी हिंसा का आश्रय लिया है।

वाल्मीकीय रामायण के अयोध्याकाण्ड में महर्षि वाल्मीकि ने श्री रामचन्द्र के अनेक गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है–सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मण प्रतिपूजकः। दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः (1.14) अर्थात् श्रीरामचन्द्र दयालु, क्रोधरहित, विद्वानों के पुजारी, दीनों पर दया करने वाले, धर्म का मर्म जानने वाले, संयमी और पवित्र चरित्र थे। एक स्थान पर वाल्मीकि मुनि ने लिखा है कि वे सदा शान्त चित्त रहते थे और पृथिवी के तुल्य क्षमावान् थे। इस प्रकार के दयावान, क्षमावान् पुरुष को भी ताटका, बाली, विराध और रावण की हिंसा करनी पड़ी।

महाभारत काल के सबसे महान् नेता अध्यात्मविद्या के स्रोत श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेष्टा योगिराज श्रीकृष्ण महाराज ने गीता (16.2) में अहिंसा और दया को दैवी सम्पदा में माना है और समय आने पर स्वयमेव ही श्रीकृष्ण महाराज ने–(1) शिशुपाल, (2) मुर, (3) पंचजन, (4) निशुम्भ, (5) हयग्रीव, (6) भौमासुर, (7) शल्य और (8) कंस

आदि दुष्टों को मारा और जरासंध, कर्ण और दुर्योधन को मरवाया। वे अहिंसा के भक्त होते हुए भी सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों के नाश के लिए सदा हिंसा और अहिंसा का समय-समय पर प्रयोग करते रहे। गीता (4.8) में उन्होंने कहा है कि साधुओं की रक्षा, दुष्टों का नाश तथा धर्म की स्थापना के लिए युग-युग में मैं प्रकट होता हूं। महाभारत के कौरव-पाण्डव युद्ध में जब कर्ण और अर्जुन का युद्ध हो रहा था, तब कर्ण का रथ भूमि में धंस गया। उस समय कर्ण ने सफेद झण्डा खड़ा करके अर्जुन को कहा कि यह धर्म नहीं है कि तुम मुझ निहत्थे पर बाण चलाओ। अर्जुन बाण चलाने से रुक गया। उस समय श्रीकृष्ण को बड़ा क्रोध आया और कर्ण को कहा कि हे कर्ण! जिस समय तुमने तथा दुर्योधन, दु:शासन और शकुनि ने एक वस्त्र धारण किये हुए द्रौपदी को सभा में बुलवाया था और तुमने द्रौपदी से सभा में कहा था कि हे द्रौपदी! पाण्डव नष्ट हो गए हैं। अब तुम किसी दूसरे पति को वर लो। उस समय यह तेरा धर्म कहाँ गया था जो अब तू हमें धर्म की दुहाई दे रहा है। यह कहकर अर्जुन को कहा कि मारो। दुष्ट को मारने का यही अवसर है। अर्जुन के बाणों से कर्ण की मृत्यु हो गई।

इसी प्रकार अपने सब साथियों के मारे जाने पर रक्त से लथपथ हुआ-हुआ दुर्योधन रण से भागकर एक तालाब में जा छिपा। उसके पीछे पाण्डव भागे और तालाब से ही दुर्योधन ने युधिष्ठिर को कहा कि अब मैं अकेला हूँ। इसलिए कोई एक मुझसे गदायुद्ध करे। युधिष्ठिर मान गया। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को फटकारा कि यह नई प्रतिज्ञा कैसे कर बैठे हो। जीता हुआ राज्य भी हारने के लिए उद्यत हो गये हो। अन्त में भीमसेन और दुर्योधन का गदायुद्ध आरम्भ हो गया। गदायुद्ध में दुर्योधन को बड़ा अभ्यास था। भीम को पराजित हुआ देख श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन! इस प्रकार धर्मपूर्वक युद्ध करता हुआ भीम जीत नहीं सकता। दुर्योधन छली है और छल से ही जीतना होगा। **मायाविनं तु राजानं माययैव निकृन्ततु** (महा. शल्यपर्व, 58/8)। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा कि भीम को संकेत करो कि दुर्योधन की जंघा पर गदा मारे तो जीत सकेगा अन्यथा नहीं। इस इशारे को पाकर भीम ने जंघा पर गदामारी और दुर्योधन गिर गया और मर गया। अध्यात्मविद्या के पण्डित, श्रीकृष्ण महाराज ने भी दुष्टों के दलन के लिये हिंसा के मार्ग को ही अपनाया था। इन दोनों महापुरुषों की जीवनियों से सिद्ध है कि जहाँ वे किसी से वैर-विरोध नहीं करते थे, वहाँ समय आने पर हिंसा को हाथ में लेकर दुष्टों का दमन करके धर्म की स्थापना करते थे।

भारतवर्ष में दो महापुरुष ऐसे हुए हैं जिन्होंने केवल अहिंसा को ही परमधर्म माना है। उन्होंने अहिंसा, वैराग्य और चरित्र द्वारा ही निर्वाण की प्राप्ति मानी है। इन दोनों में से एक महापुरुष गौतम बुद्ध हुए हैं जो ईसा से 623 वर्ष पूर्व कपिलवस्तु में रघुवंश में राजा शुद्धोदन के घर में उत्पन्न हुए थे। वे 28 वर्ष की आयु में ही परिवार छोड़कर निर्वाण के लिए निकल पड़े। इन्होंने हर अवस्था में अहिंसा को ही अपना लक्ष्य बनाये रखना चाहिये, ऐसा उपदेश किया और साथ ही संसार दु:ख और क्लेशों का घर है इससे विरक्त होने का भी उपदेश किया।

दूसरे महापुरुष वर्धमान महावीर, वैशाली जाति के सूर्यवंशी महाराज चेतक के भान्जे थे। इनका जन्म भी राजघराने में कुण्डपुर नामक स्थान में, जो पटना से कुछ मील दूर है, ईसा से 455 वर्ष पूर्व हुआ था। यह भी 30 वर्ष की आयु में गुरु पार्श्वनाथ के उपदेश से राजमहल और स्त्री छोड़कर विरक्त हो गए थे। चरित्र-निर्माण के साथ इन्होंने भी केवल अहिंसा पर बल दिया। इन्होंने कहा कि जो मनुष्य प्राणियों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है वह संसार में अपने लिए वैर को बढ़ाता है। इन्होंने अपने उपदेशों में युद्ध का भी विरोध किया। वे कहा करते थे कि **अपनी ही अन्तरात्मा के साथ युद्ध करो, बाहर के युद्धों से क्या लाभ।** ये दोनों महापुरुष गृहस्थ छोड़कर, विरक्त होकर अपने धर्म का उपदेश करते रहे।

ऊँची अवस्था में पहुंचा हुआ साधु, यदि अहिंसा को अपनाये तो जगत् की कोई हानि नहीं होती। मनु महाराज ने भी सन्यासी के धर्म में लिखा है कि यदि कोई उसे गाली दे, तो तेरा भला हो ऐसा सन्यासी उत्तर दे-आक्रुष्ट: कुशलं वदेत्। इसी प्रकार के सैकड़ों साधु-महात्मा संसार में हुए हैं, जिन्होंने अपमानित होकर भी दूसरों का कल्याण किया है। बुद्ध और महावीर भी यदि अपने आप तक अहिंसा को सीमित रखते तो कोई हानि नहीं थी, परन्तु उन्होंने सामूहिक रूप से हर एक में, हर अवस्था में अहिंसा की भावना उत्पन्न की, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत के बड़े-बड़े योद्धा इनका उपदेश सुनकर घर-वार छोड़कर, भिक्षु बन गए। ये दोनों चरित्रवान् थे और राजघराने को छोड़कर आए हुए थे; इसलिए स्वाभाविक था कि जनता पर इनका प्रभाव पड़ता। बुद्ध के प्रचार से जिन-जिन राजघरानों ने भिक्षावृत्ति स्वीकार की, उनके कुछ नामों का उल्लेख श्री पं. रामगोपाल शास्त्री ने इस प्रकार किया है–

(1) महा प्रजापति गौतमी अपने साथ 500 घरानों की स्त्रियां लेकर भिक्षुणी बनी।

(2) लिच्छवी जाति के जनरल की बहन की पुत्री सिंधा भिक्षुणी बनी।

(3) जैती परिवार की सब स्त्रियां भिक्षुणी बनीं।

(4) अंजन वनियगण के राजा का पुत्र भिक्षु बना।

(5) मिथिला का राजा मखदेव भिक्षु बना।

(6) कान्धार का राजा बोधिसत्त्व भिक्षु बना।

(7) मल्ल जाति के क्षत्रिय जो पावपुरी (बिहार) में रहते थे उनमें बहुत से भिक्षु बने।

(8) अलकप्पा के बुलि क्षत्रिय, रामगाम के कोलियस, पियल्लिवान् के मौर्य, सेहुमार पर्वत के भाग, केश पुत्त कालासस क्षत्रिय जातियों के बहुत से क्षत्रिय लोग बुद्धोपदेश से भिक्षु बने।

ये नाम हमने, इतिहास में जो आए हैं उनके दिए हैं। वैसे तो बुद्ध के 50 वर्ष के प्रचार में लाखों नर-नारियाँ नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में भिक्षु संघ में प्रविष्ट हो गए थे। बुद्ध

के पीछे अहिंसा और संसार से विरक्ति के प्रचार द्वारा करोड़ों आर्य (हिन्दू) बौद्ध धर्म में जा मिले।

अभी बौद्ध धर्म फैल ही रहा था कि जैनमत प्रवर्त्तक महावीर ने भी अपने विचारों का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उनके उपदेश से (1) वीरांग, (2) वीरयश, (3) संजय, (4) एणेयक्त, (5) सेय, (6) शिव, (7) उदयन, और (8) शंख–ये 8 राजे राजा-पाट छोड़कर श्रमण (साधु) बन गए। उनके शिष्यों ने पदयात्रा में घूम-घूमकर श्रमणसंघ स्थापित किए। केवल महावीर के संघ में एक लाख भिक्षु और 36 हजार भिक्षुणियां थी। एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अट्ठारह हजार श्राविकाएं थीं। इसी से आप अनुमान लगा सकते हैं कि भारत की ये वीर क्षत्रिय जातियां केवल अहिंसा धर्म का आश्रय लेकर भिक्षु बनकर डरपोक, कायर और नपुंसक बन गई।

630 ई. में जब चीन का प्रसिद्ध यात्री ह्वेनसांग भारत में आया तो उसने लिखा कि कप्पिश (काफिरस्तान) सब बौद्ध हो गया था। लम्पाक और नगर (जलालाबाद) में कुछ हिन्दू थे शेष सारा-का-सारा काबुल बौद्ध हो गया था। सारे भारतवर्ष में प्रायः आधी संख्या बौद्धों की दिखाई देती थी। 800 ई. से 1000 ई. तक बंगाल का राज्य, पालवंश के हाथ में आया। बंगाल और बिहार बौद्धों का गढ़ बना हुआ था। जैन और बौद्ध धर्म का हिंसा के विरुद्ध इतना प्रचार था कि कोई भी बंगाल-बिहार का रहने वाला सेना में भरती नहीं होता था। देश की रक्षा के लिए सेना में खासा, हून, लाट और कर्नाट आदि देशों से क्षत्रिय लाए जाते थे जो बौद्ध और जैन नहीं होते थे।

बुद्ध और महावीर दोनों ने वैदिक धर्म के अहिंसा के एक अंग को पकड़ लिया, दूसरा अंग हिंसा, जो कि संसार के भिन्न-भिन्न स्वभाव के लोगों को वश में रखने के लिए आवश्यक था, उसकी उपेक्षा की, जिसका यह परिणाम निकलना स्वाभाविक था कि शत्रु के दमन, देश, जाति तथा धर्म की रक्षा के लिए वीरता की भावना लुप्त हो गई। जाति और देश का राजनीतिक और धार्मिक रूप से पतन हो गया। शत्रुओं के आक्रमण होने पर देश और जाति की रक्षा का भाव लुप्त हो गया।

इस्लामी आक्रमण आरम्भ हो गए। काबुल, जो सारे का सारा बौद्ध हो गया था, क्षत्रियभाव के लुप्त होने से अहिंसा का भक्त बन चुका था, वह शत्रुओं के आगे न ठहर सका। शनैः-शनैः मार खाते गए और मोहम्मदी धर्म में प्रविष्ट होते गए। जिस अफगानिस्तान के उद्भांडपुर (उंड) ग्राम में महर्षि पाणिनि उत्पन्न हुए थे और जहां कुभा (दरिया काबुल) तथा क्रमु (दरिया कुर्रम) ये वैदिक नदियाँ बहती थीं; वह देश झूठी अहिंसा के कारण आर्यस्थान के स्थान पर इस्लामिस्तान बन गया। विभाजन से पूर्व का पश्चिमी पंजाब तथा पूर्वी बंगाल जहां मुसलमान अधिक थे, वे भी जैन और बौद्ध धर्म के मानने वाले थे, जो

डर के मारे अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बने।

मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से सिंध के बौद्ध मुसलमान बन गए। यही कारण है कि सिंध (जो इस समय पाकिस्तान में है) प्राय: मुसलमान हो गया है। शिवी (पाकिस्तान में जिसको सिबी कहते हैं) पर जब मुहम्मद बिन कासिम ने आक्रमण किया, तब वहां का राजा वत्सराज, जो बौद्ध नहीं था, क्षत्रियों को साथ लेकर मुकाबले के लिए किले पर खड़ा हो गया। नगर की प्रजा जो कि अधिकतर बौद्ध और जैन धर्म को मानने वाली थी, उन्होंने राजा को कहा कि लड़ना और मारना हमारे धर्म के विरुद्ध है। इसलिए आप लड़े नहीं, शत्रु से संधि कर लें। जब राजा ने इनकी भीरूता भरी सलाह नहीं मानी, तो इन्होंने शत्रु के यहाँ सन्देश भेजा कि, यदि तुम बौद्धों को न मारो तो हम तुम्हें नगर का पिछला द्वार खोल देंगे। कासिम ने इसे स्वीकार कर लिया, इन्होंने पिछला दरवाजा खोल दिया और अरब सैनिक अन्दर घुस आये। थोड़े से भिक्षुओं को छोड़कर सबको मार दिया। इस प्रकार शिवी नगर का पतन हुआ।

बिहार में विक्रमशिला और नालंदा बौद्धों के दो बड़े भारी विश्वविद्यालय थे। उनमें लाखों ग्रन्थ और पचास सहस्र से भी अधिक बौद्ध भिक्षु शिक्षा पाते थे। सन् 1197 ई. में बख्तयार खिलजी के मुट्ठी भर सैनिकों ने वहाँ के पढ़ने-पढ़ाने वाले हजारों बौद्धों का वध किया और वहां की लाखों पुस्तकें जला दी। 'अहिंसा परमो धर्म:' और 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का जाप करते-करते सब बौद्ध मारे गए और किसी ने हाथ नहीं उठाया। नदिया, जो इस समय पूर्वी बंगाल (बंगलादेश) में है, वहां सन् 1204 में बख्तयार खिलजी का पुत्र इख्तियारुद्दीन केवल 18 सैनिकों को लेकर राजधानी नदिया में पहुंच गया, द्वारपाल मार दिए गये। लक्ष्मणसेन राजा महल छोड़कर भाग गया और नगर उसके हाथ आ गया। सौराष्ट्र में सोमनाथ के मन्दिर की भी यही अवस्था हुई। जब गजनी के महमूद ने मन्दिर पर हमला किया तो सहस्त्रों भक्त और पुजारी 'नम: शिवाय' का जप करते रहे और शस्त्र नहीं पकड़े तब थोड़े-से मुस्लिम सैनिकों ने मूर्ति तोड़ दी और सबको मारकर करोड़ों रुपये का धन लूटकर ले गए।

सदा अहिंसा और शान्ति के अपनाने से जो दुष्परिणाम देश के लिए निकले उनका संक्षेप रूप हमने दिखलाया है। इस विषय में अधिक जानकारी के लिए सम्बन्धित इतिहास को पढ़ा जा सकता है।

उपर्युक्त इन विचारों का हिन्दुओं पर भी प्रभाव पड़ा। अभी तक भी लाखों हिन्दू ऐसे हैं जो नागपंचमी के दिन सांपों की पूजा करते हैं और उन्हें दूध पिलाते हैं। हिन्दुओं में दुष्टों के दलन की भावना लुप्त हो गई है। इसीलिए संख्या, बुद्धि और धन की शक्ति होते हुए भी, संघर्ष के समय अपमानित होते हैं और अधिकार खो बैठते हैं।

मनुष्य के सम्बन्ध में हमने ऊपर विस्तार से वैदिक विचार रखा है। मनुष्य के अतिरिक्त और प्राणियों से कैसे व्यवहार करना चाहिए उसके लिए भी वैदिक विधान है।

वेद की सदा यही आज्ञा है कि सब प्राणियों की रक्षा करनी चाहिए। वेद में लिखा है कि हे प्रभो! सब मनुष्यों और चतुष्पदों का कल्याण हो; परन्तु जगत् में सिंह, चीता, मगरमच्छ, सांप आदि-हिंसक जीवों को मार देने में वेद दोष नहीं मानता। इसी प्रकार घातक कृमि जो कि प्लेग, हैजा आदि रोगों को फैलाने वाले हैं, दिखाई देने वाले तथा न दिखाई देने वाले जीवाणु (germs) जो अनेक प्रकार के तपेदिक आदि रोग फैलाने वाले हैं, वेद उनको भी मारने की आज्ञा देता है। इसके लिए अथर्ववेद आदि में सैंकडों मन्त्र भरे पड़े हैं। इन मन्त्रों में हानिकर कृमियों के मारने की आज्ञा है। जिन औषधियों से ये मरते हैं उनके नाम भी वेद में दिये हुए हैं। वेद के विचार इस विषय में स्पष्ट हैं कि जो जीव जगत् को हानि पहुँचाते हैं उनके नाश करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए। हमारी फसलों, वृक्षों तथा अन्य अन्नों को हानि पहुंचाने वाले कृमि तथा टिड्डीदल—इनका नाश करना चाहिये। यदि इनका नाश न किया जाये तो अन्नादि के नष्ट हो जाने से लाखों मनुष्य और दूसरे जीव भूख से तड़प-तड़प कर मर जावेंगे। घातक जीवों की अहिंसा से मनुष्यादि अन्य प्राणियों के लिए हिंसा हो जावेगी।

हम प्रतिदिन अपने अनुभव में देखते हैं कि सिर में जुएं और लीखें पड़ जाने से उनको निकाल देते हैं और अपनी रक्षा कर लेते हैं। बच्चों के पेट में जब मलहप, चुरवे ओर चमूने आदि कृमि पड़ जाते हैं तो औषधि से एक बच्चे की रक्षा के लिए हजारों कीड़ों को मारकर बाहर निकाल देते हैं। इसी प्रकार यदि किसी मनुष्य, गौ, घोड़ा, बकरी आदि के शरीर के व्रण (जख्म) में कीड़े पड़ जाते हैं तो औषधि से उन घातक कीड़ों को मारकर इन प्राणियों की रक्षा करते हैं।

वैदिक धर्म का सार यह है कि जो भी मनुष्य अथवा दूसरे प्राणी संसार को हानि पहुंचाते हैं उनका नाश करना चाहिए और जो संसार को लाभ पहुंचाते हैं अथवा किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाते उनकी रक्षा करनी चाहिये।

महाभारत में कथा आती है कि जब पाण्डव द्रौपदी के साथ सिंध के वनों में घूम रहे थे तब जयद्रथ को पता लगा कि द्रौपदी सहित पाण्डव मेरे राज्य में घूम रहे हैं और आजकल धौम्य ऋषि के आश्रम में ठहरे हुए हैं। कुछ साथियों को लेकर आखेट के बहाने वह उस आश्रम में पहुँच गया। अर्जुन, भीम आदि आश्रम से कुछ दूर गये हुए थे। द्रौपदी के सौन्दर्य पर वह पहले ही मुग्ध था। उसे अकेली देखकर बलपूर्वक उठाकर ले भागा। द्रौपदी की चीख-पुकार को एक और बैठे धौम्य ने सुना और जब देखा कि उसे कोई उठाकर ले जा रहा है तब जोर-जोर से पाण्डवों को पुकारने लगा। भीम और अर्जुन वहाँ आ पहुंचे और जयद्रथ का पीछा किया। कुछ दूर जाकर उसे पकड़कर आश्रम में ले आए। भीम और अर्जुन ने उसका वध करने का निश्चय किया। जयद्रथ ने हाथ जोड़कर क्षमा मांगनी आरम्भ की तो युधिष्ठिर ने दु:शला और गान्धारी के सम्बन्ध का विचार करके भाइयों के क्रुध होने पर भी उसे क्षमा दे दी। **न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मापि च सैंधवः।** अपनी जान छुड़ाकर

दुष्ट जयद्रथ भाग गया; परन्तु हृदय में प्रतिकार लेने की गाँठ-बांध ली। महाभारत के युद्ध में जयद्रथ अपनी सारी सेना को लेकर दुर्योधन के साथ जा मिला और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु को अन्य महारथियों के साथ मिलकर मार दिया। तब भीम और अर्जुन ने युधिष्ठिर को कहा कि हे भ्राता! यह तुम्हारी क्षमा का फल है। यदि इसे पहले ही मार दिया होता तो आज यह दिन देखना न पड़ता।

दूसरा दृष्टान्त पृथ्वीराज चौहान का है जिसने कई बार मुहम्मद गौरी को आक्रमण करते-करते पकड़ा और छोड़ दिया। एक बार पृथ्वीराज, गौरी के हाथ आ गया। तब पृथ्वीराज ने कहा कि मैंने तुम्हें कई बार छोड़ा है तुम मुझे क्यों नहीं छोड़ते। इस पर मुहम्मद गौरी ने उत्तर दिया कि तुमने मूर्खता की थी अब मैं हाथ आए हुए शत्रु को छोड़कर मूर्खता नहीं कर सकता। वह उसे कैद करके गजनी में ले गया और वहां जाकर उसकी दोनों आँखें निकलवा दीं। इस प्रकार के सैकड़ों दृष्टान्त हैं; जो यह सिद्ध करते हैं कि आततायी को छोड़ना अहिंसा नहीं प्रत्युत हिंसा को बढ़ावा देना है। तीसरा दृष्टान्त भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरु के समय का है, जब नरपिशाच, हिंसक, चीनी कम्युनिस्टों के प्रति भारत सरकार शान्ति और सद्भावना का व्यवहार करती रही। प्रधानमन्त्री नेहरू ने शान्ति और मैत्री बनाये रखने के कारण तिब्बत में चीन की प्रभुसत्ता भी मान ली। फिर भी शनैः-शनैः उन्होंने 12000 वर्गमील भारतभूमि हथिया ली। भारत ने शस्त्र पकड़कर चीन का सिर नहीं फोड़ा प्रत्युत उस समय भी शान्ति का ही जाप और उपदेश करता रहा—इस शान्तिपाठ का लाभ उठाकर उस विश्वासघाती चीन ने अक्टूबर 1962 में भारत पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया जिससे 22000 वर्गमील भूमि भारत की चली गयी और सैकड़ों सैनिक मारे गये। आततायी दुष्ट के प्रति अहिंसा और शान्ति पाठ का यह फल प्रत्यक्ष है। इस प्रकार की मानवीय दुष्ट प्रवृत्तियों को ही ध्यान में रखते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' के 12वें सम्मुलास में लिखा है—"**सर्वथा सब जीवों पर दया करना भी दुःख का कारण होता है क्योंकि तुम्हारे (जैन) मतानुसार सब मनुष्य हो जावें, चोर-डाकुओं को कोई भी दण्ड न देवे, तो कितना पाप खड़ा हो जाये? इसलिए दुष्टों को यथावत् दण्ड देने और श्रेष्ठों के पालन करने में दया और इससे विपरीत करने में दया-क्षमा रूप धर्म का नाश है।**" स्वामी दयानन्द की इस शास्त्रीय विचारधारा को अपनाकर भारत सरकार ने इन मूर देवों अर्थात् आतंकवादियों के ट्रेनिंग कैम्पों पर सर्जिकल आक्रमण कर, उनको नष्ट कर सही अर्थो में एक प्रकार से अहिंसा की ही प्रतिष्ठा की है। इसी प्रकार शिश्नदेवों अर्थात् बलात्कारी-व्यभिचारियों को भी सजा मिलनी चाहिए। तभी यह पृथ्वी स्वर्ग का धाम बन सकती है। **मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः,** (ऋ. 7.21.5) **घ्नन् शिश्नदेवान्** (ऋ. 10.99.3) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय विलासी बलात्कारी-व्याभिचारियों को हम प्राप्त न हों एवं इनका विनाश हो।

—प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (1-19) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

अथर्ववेद संहिता के पाठालोचन कार्य में ह्विटनी की भूमिका

–कृष्ण कान्त शास्त्री
शोधच्छात्र वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शंकर पाण्डुरंग पण्डित द्वारा भी अथर्ववेद का शुद्ध पाठालोचन करने का अप्रतिम कार्य किया गया था और 4 जिल्दों में एक संस्करण पद-पाठ और सायणाचार्य के भाष्य के साथ डिपार्टमेंट ऑफ पब्लिक इन्सट्रक्शन, बम्बई से सन् 1895-98 के दौरान प्रकाशित किया गया था। शंकर पाण्डुरंग पण्डित द्वारा अपने इस ग्रन्थ की भूमिका में रोथ-ह्विटनी के सन् 1856 के बर्लिन से निर्गत अथर्ववेद संहिता के बारे में निम्न प्रकार से टिप्पणी[9] की गई है–

रोथ-ह्विटनी-यह प्रोफेसर आर. रोथ और डब्लू. डी. ह्विटनी द्वारा सन् 1856 में बर्लिन से प्रकाशित अथर्ववेद-संहिता का टैक्स्ट है। मैंने इसे अपने प्रमाणों में से एक नहीं माना है, परन्तु यह वो टैक्स्ट है जिससे काण्ड-19 और सम्पूर्ण पाद-टैक्स्ट के अतिरिक्त संहिता के मिलान का कार्य प्रारम्भ किया है। पूर्ववर्ती में मैंने पाण्डुलिपि के मिलान का कार्य मुद्रित टैक्स्ट से करना पर्याप्त असम्भव समझा है क्योंकि यह पाण्डुलिपि की परम्परा से बहुत अधिक अन्तर रखता है। मेरी पाण्डुलिपि और अन्य प्रमाणों का मिलान, इसलिए लिखित प्रतिलिपि से किया गया था जो मैंने विशेष रूप से पाण्डुलिपि से बनाई थी। पहले ही वर्णित किया जा चुका है कि रोथ और ह्विटनी का कार्य मेरे लिए बहुत उपयोगी रहा है, यह दो लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों के केवल परिश्रम के परिणाम को ही प्रदर्शित नहीं करता अपितु यह अन्य पाण्डुलिपियों के संग्रह के प्रतिनिधि के रूप में भी है। टैक्स्ट जैसा कि प्रोफेसर ह्विटनी के इन्डैक्स वर्बोरम में कई स्थानों पर अन्तिम रूप से शुद्ध किया गया था, यह आज तक तिथि में वह प्रदर्शित करता हुआ जो दो विद्वानों के परिश्रम के प्रतिफल के रूप में प्राप्त किया गया है, अथर्ववेद-संहिता के सही पाठ को प्रकाश में लाने में मेरे लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। श्री शंकर पाण्डुरंग पण्डित अथर्ववेद संहिता को मुद्रित रूप में प्रकाशित करने वालों में अग्रणीय रहे हैं, अतः उनके द्वारा ह्विटनी के कार्य की प्रशंसा करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

ह्विटनी ने अपने जीवनकाल में प्राच्य भारतीय वेदवाङ्मय सम्बन्धी अनेक कार्य किये हैं, जिनमें सन् 1905 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय से प्रकाशित अथर्ववेद संहिता मुख्य है। चार्ल्स रॉकवैल लैनमैन ने ह्विटनी की मृत्यु के उपरान्त उनके द्वारा छोड़े गये समस्त कागजात के आधार पर बड़ी गहराई से जांच करके ह्विटनी के अपूर्ण कार्य को पूरा करने का गुरुतर कार्य सम्पादित किया गया है। अतः ह्विटनी के पाठालोचन कार्य की समीक्षा करने के लिए चार्ल्स रॉकवैल लैनमैन जिन्होंने इसके दोनों ग्रन्थों का सम्पादन किया है, से बढ़कर अन्य कोई व्यक्ति नहीं हो सकता है। चार्ल्स रॉकवैल लैनमैन ने ह्विटनी के कार्य के सम्बन्ध में जो टिप्पणी की है, वह उन्हीं के शब्दों में विस्तृत रूप से निम्नवत है–

"ह्विटनी का अथर्ववेद पर परिश्रम–बहुत पहले मार्च, 1851 में, बर्लिन में, ह्विटनी के जर्मनी में, प्रथम अर्धवार्षिक पाठ्यक्रम में एक विद्यार्थी के रूप में उनके अध्यापक वैबर उनकी विद्वता पूर्ण योग्यता से इतने प्रभावित थे कि उनके द्वारा एक महत्त्वपूर्ण वैदिक टैक्स्ट[1] का सम्पादन करने की योजना का सुझाव दिया गया। ह्विटनी द्वारा रोथ पर टयूबिन्जन में आगामी ग्रीष्मकालीन ऋतु में प्रस्तुत प्रभाव भी किसी प्रकार से भिन्न नहीं था और इसके फलस्वरूप अथर्ववेद[2] संहिता का संयुक्त सम्पादन करने का परिणाम आया। इसी के अनुरूप ह्विटनी के द्वितीय शीतकालीन अर्धवार्षिक पाठ्यक्रम हेतु बर्लिन वापस आने पर सम्पादन करने का प्रारम्भिक परिश्रम प्रारम्भ हुआ। उसकी अथर्ववेद संहिता की प्रारम्भिक हस्त लिखित प्रतिलिपि, उसके का प्रारम्भिक पश्रिम प्रारम्भ हुआ। उसकी अथर्ववेद संहिता की प्रारम्भिक हस्त लिखित प्रतिलिपि, उसके मिलान–ग्रन्थ में है और ग्रन्थ[3] में, अक्तूबर, 1851 और मार्च, 1852 के बीच के लघु अन्तरालों में लिखी गई तिथियों से मिलती है। टयूबिन्जन (1852) में दूसरी ग्रीष्मकालीन ऋतु का समय निस्संदेह रूप से इस प्रकार नकल किए गए टैक्स्ट का अंशतः अध्ययन करने, अंशतः रोथ के साथ सम्पादन के तरीकों के विवरणों की योजना बनाने में, अंशतः ऐसे तरीकों को बनाने में सहायता करने में लगा जिससे इतने महत्त्वपूर्ण ऋग्वेद के प्रतीकों के इन्डैक्स बनाने की प्रगति में आगे बढ़ा जा सके और ऐसे ही निकट भविष्य में किए जाने वाले कार्यों में लगा; यदि हम कहें तो चार प्रमुख वेदों की शब्दानुक्रमणिका जो नवम्बर, 1852 में जारी की गई थी, को बनाने में निस्संदेह रूप से, ह्विटनी का योगदान केवल 'कम महत्त्व का था'। सन् 1852–53 की शीतकालीन ऋतु में उसने प्रातिशाख्य और उसकी व्याख्या जो बर्लिन के प्राचीन पाण्डुलिपि–गृह (वैबर, संख्या 361) में रखी गई थी, की नकल की, जैसे कि उसके संस्करण के पृष्ठ 334 में कहा गया है। जैसे कि नीचे (प्राक्कथन के पृष्ठ–44 से 50 तक) वर्णित है, अथर्ववेद संहिता की पेरिस, ऑक्सफोर्ड और लन्दन की पाण्डुलिपियों का मिलान 1853 की प्रारम्भिक ग्रीष्मकालीन ऋतु में, उसके अमेरिका से वापस आने से ठीक पहले (अगस्त में) किया गया था। ह्विटनी के द्वारा अपनी हस्त–लिपि में प्रिन्टर को भेजी जाने वाली प्रतिलिपि, नागरी लिपि में बहुत खूबसूरती और सफाई से बनाई गई थी, जो अब भी सुरक्षित है।

टैक्स्ट का संस्करण या 'प्रथम खण्ड'–इस कार्य का पहला भाग, काण्ड 1 से 9 युक्त

एक ग्रन्थ, दिनांक फरवरी, 1855 के अस्थायी प्राक्कथन के साथ बर्लिन में प्रकाशित हुआ। अस्थायी प्राक्कथन द्वारा यह घोषणा की गई कि काण्ड 20 का टैक्स्ट पूर्ण नहीं दिया जाएगा, अपितु केवल कुन्ताप सूक्त और इसका शेष भाग के केवल ऋग्वेद के सन्दर्भ दिए जाएंगे; और यह संकल्प किया गया कि यद्यपि यह योजना परिवर्तित कर दी गई, और द्वितीय भाग की मुख्य विषय वस्तु के लिए, आठ में से सात बिन्दुओं में सहायक सामग्री की गणना निम्नलिखित रूप से की गई है-इस योजना में, वास्तव में एक पतला, 70 पृष्ठों के भार वाला केवल काण्ड 20 को सम्पूर्ण रूप से वर्णित करने वाला ग्रन्थ प्रकशित हुआ। इसके प्रारम्भ में आधा पन्ने में निश्चित प्राक्कथन और एक नया शीर्षक-पृष्ठ दिया गया था। इस परिभाषित करने वाले प्राक्कथन में अक्तूबर, 1856 की तिथि अंकित है और अस्थायी प्राक्कथन में आठ बिन्दुओं में, टीका सम्बन्धी टिप्पणियां जोड़ी गई हैं। नये शीर्षक पृष्ठ पर शब्द, "एस्टर ब्रैन्ड टैक्स्ट" वर्णित हैं, इस प्रकार निहितार्थ से एक दूसरे ग्रन्थ का संकल्प मिलता है, जिसमें परिभाषित करने वाले प्राक्कथन के अनुसार सहायक सामग्री प्रकाशित की जानी थी।

इस कार्य का "प्रथम खण्ड" और इस प्रकाशन–शृंखला से सम्बन्ध

शीर्षक पृष्ठ के अन्तर्निहित संकल्प से, वर्तमान कार्य उसे पूर्ण करने के लिए अभिप्रेत है। क्योंकि प्रथम खण्ड का अधिकांश परिश्रम ह्विटनी के ऊपर पड़ा था, इसलिए प्रस्तावित "द्वितीय" ग्रन्थ का अधिकांश परिश्रम रोथ द्वारा किया जाना था। वास्तव में, यद्यपि इसके परिमाण स्वरूप समालोचना और इस वेद की टीका के लिए रोथ की महान् सेवाओं ने एक भिन्न रूप लिया और ये एक प्रकार से उसके सेंट पीटर्सबर्ग लैक्सिकन में योगदान में साकार हैं और दूसरे उसके द्वारा इस वेद के काश्मीरी पाठ की प्रतिभाशाली खोज और उसके टैक्स्ट का वलगेट के पाठ से मिलान करने का श्रेय जाता है। तथापि, जैसा कि स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष (पृष्ठ-17) है, ह्विटनी ने विचार किया और इस कार्य के बारे में कहा[4] जैसा कि "अथर्ववेद के रोथ-ह्विटनी संस्करण के द्वितीय खण्ड के संस्करण" में और रोथ (तुलना करें, पृष्ठ-86 से) को लिखते हुए इसे "अपना खण्ड" कहा गया है; और दोनों मित्रों के बीच 1894 में हुए पत्रों के आदान-प्रदान में इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि क्या "द्वितीय खण्ड" उसी प्रतिष्ठान (एक, ड्यूमलर) से प्रकाशित होना है जिसने पहला खण्ड 1856 में निकाला था। ह्विटनी के रोथ को लिखे गए अन्तिम पत्र (उसकी मृत्यु के कुछ दिन पूर्व, पत्र 10 अप्रैल, 1856 में लिखा गया था) से यह प्रकट होगा कि उसने इस कार्य को हावर्ड शृंखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय लिया था और रोथ के ह्विटनी को लिखे गये अन्तिम पत्र (दिनांक अप्रैल, 3) से इस व्यवस्था पर उसकी बहुत संतुष्टि व्यक्त होती है। इस योजना को मेरे मित्र हेनरी क्लार्क वैरेन की हार्दिक सहमति थी और जबकि वह अब भी तुलनात्मक रूप से अच्छी तरह स्वस्थ था, उसने उदारता से विश्वविद्यालय को मुद्रण के लिए धन दिया था।

कार्य का बाहरी रूप

अभी जो वर्णन किया गया है, वह उनके सम्बन्धों का विवरण था और ह्विटनी की व्यक्त इच्छा को सम्मान देते हुए मुद्रित कागज का आकार, "प्रथम खण्ड" के अनुरूप चुना गया है। पन्ने 1 से 1009 तक लगातार क्रमांकित किए गए हैं, जैसे कि यह कार्य वास्तव में एक ही खण्ड हो; परन्तु क्योंकि दो आधी जिल्दबन्दियों के कार्य को अलग करने में व्यावहारिक था, मैंने ऐसा किया है और उन दो अर्ध खण्डों को हार्वर्ड ओरिएण्टल शृंखला के 7वें और 8वें खण्ड के रूप में नामित किया है[5]। ये खण्ड मजबूती से जिल्द में बांधे गए हैं और उचित रूप से मुद्रित हैं; पन्ने सामने से खुलते हैं; और पन्नों के ऊपरी भाग को मार्जिन को खराब न करते हुए काटा गया है। ऊपरी सतह पर सस्ती सुनहरी सजावट का उद्देश्य सुशोभित करना नहीं है अपितु अपेक्षाकृत रूप से ग्रन्थ को धूल और बेरंग होने से बचाना है जो खुरखुरी हाथ से कटी हुई ऊपरी सतह के कारण वास्तव में आम हो गया है। यह ग्रन्थ इलैक्ट्रो टाइप किया गया है और इस प्रकार से, यह आशा है कि अक्षरों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर खिसकने से होने वाली त्रुटियों, स्वरांकन के चिह्नों के टूटने और इसी प्रकार की त्रुटियों से पूर्णरूपेण मुक्त रहेगा।

कार्य का सामान्य विस्तार, जैसा कि पूर्व में किए गए संकल्प और उसकी सिद्धि द्वारा निर्धारित किया गया था

"प्रथम खण्ड" के निर्णायक प्राक्कथन में इसका सामान्य प्रयोजन प्रचुर पैमाने पर दिया गया था। उस संकल्प के विशेष लक्षण उस संकल्प में आठ बिन्दुओं निम्न प्रकार से दिए गए हैं–वलगेट और काश्मीरी अथर्ववेद के पाठों के बीच की शब्दानुक्रमणी

1. प्रातिशाख्य के उद्धरण;
2. पद–पाठ से उद्धरण;
3. अथर्ववेद का अन्य संहिताओं से सांमजस्य;
4. कर्मकाण्ड से उद्धरण (कौशिक)
5. अनुक्रमणी से उद्धरण;
6. सामान्य परिचय;
7. टीकाओं से सम्बन्धित टिप्पणियां;
8. समीक्षात्मक टिप्पणियां

ह्विटनी द्वारा इस बीच में, उपरोक्त वर्णित संकल्पों को लक्ष्य से अत्याधिक मात्रा में पूर्ण कर दिया गया था। सन् 1862 में उसने प्रातिशाख्य (बिन्दु–1), टैक्स्ट, अनुवाद, टिप्पणियां, सूचीपत्र आदि प्रकाशित किए। इस पुस्तक के केवल उद्धरणों का संकल्प किया गया था। सन् 1881 में ईन्क्स बर्बोरम[6] (यह संकल्पित नहीं थी) नामक पुस्तक ने अनुसरण

किया, जिसमें पाद-पाठ (बिन्दु-2) का सम्पूर्ण विवरण दिया गया था। विभिन्न वैदिक संहिताओं (1852) के बीच की शब्दानुक्रमणिओं की सारिणी और अथर्ववेद के प्रतीकों की सूची (1857)-बड़े पैमाने पर पहली बार प्रकाशित हुई थी, यह ह्विटनी का बृहत् पैमाने का दूसरा कार्य था जो अगले बिन्दु (बिन्दु-3) पर उल्लिखित कार्य के सम्पादन की दिशा में बहुत दूर ले गया। इसके अतिरिक्त, कार्य की पूर्णता में दोनों सम्पादकों के विद्यार्थियों का योगदान था। सन् 1878 में गार्बे ने हमें वैतान-सूत्र टैक्स्ट और इसका अनुवाद दिया; और इसका अनुसरण सन् 1890 में ब्लूमफील्ड के कौशिक-सूत्र के टैक्स्ट द्वारा किया गया। इस उत्तरवर्ती टैक्स्ट की अन्तर्निहित कठिनाईयां और ब्लूमफील्ड के कार्य-सम्पादन की उत्कृष्टता ने हमें अधिक उत्सुकता से अफसोस कराया कि उसने हमें अनुवाद भी नहीं दिया था। इस वेद के मंत्रों पर कर्मकाण्डीय प्रयोग का विवरण तैयार करने हेतु सामग्री, इस प्रकार हमारे पास थी। जिस समय उसने लन्दन का मिलान ग्रन्थ सन् 1853 में बनाया (देखें नीचे, पृष्ठ 72), ह्विटनी ने प्रमुख अनुक्रमणी की एक लिखित प्रतिलिपि भी बनाई थी और इसके बाद में उसने बर्लिन-पाण्डुलिपि के मिलान-ग्रन्थ को इससे जोड़ा (यह बिन्दु-5 के कार्य की प्रारम्भिक तैयारी के रूप में था)। अथर्ववेद पर इस दीर्घ परिश्रम के दौरान ह्विटनी ने स्वाभाविक रूप से कई अवलोकन-टिप्पणियां बनाई थी, जो सामान्य परिचय के लिए उपर्युक्त थीं (बिन्दु-6)। रोथने उनको काफी संख्या में टीकाओं की टिप्पणियां भेजी थीं (बिन्दु-71)। इसके अतिरिक्त, उस दशाब्दी में जब ह्विटनी ने अपने को इस कार्य से जोड़ा था और सम्बन्धित टैक्स्टों को उसने अपने मिलान-ग्रन्थ में, अथर्ववेद संहिता के प्रत्येक मंत्र के सामने नोट किया था, अन्य टैक्स्टों के वे स्थान जहां उस मंत्र की समरूप या तुल्य रूप में पूर्ण रूप से या आंशिक पुनरावृत्ति होती है; इस प्रकार शब्दानुक्रमणियों का एक बहुत विशाल संग्रह बनाया था। बिन्दु-3 में वर्णित सारिणी और सूची से जो सम्भव था, उसकी अपेक्षाकृत अथर्ववेद संहिता को अपना लक्ष्य बनाते हुए और समानान्तर टैक्स्टों की असंगतियों की सूचना देने के लिए संसाधनों से अपने को अत्यन्त बृहत्तर सम्पूर्णता से सुसज्जित किया गया था।

समालोचनात्मक टिप्पणियां

संकल्पित सभी आठ बिन्दुओं में से, एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और बहुत आग्रहयुक्त प्रतिष्ठा का, निस्संदेह रूप से समालोचनात्मक टिप्पणियों का आठवां बिन्दु था, जिसमें पाण्डुलिपियों के विभिन्न पाठ दिए जाने थे। अथर्वण प्रातिशाख्य (पृष्ठ 338; वर्ष सन् 1862) की अपनी परिचयात्मक टिप्पणी में ह्विटनी कहते हैं:-

परम्परा से जो अथर्ववेद हस्तगत हुआ है, उसकी दशा ऐसी थी कि सम्पादकों पर दायित्व के रूप में यह अधिरोपित किया जाए कि जो किसी अन्य वेद में पूरी तरह से क्षमा न किए जाने योग्य स्वतंत्रता रही होगी-अर्थात्, टैक्स्ट के पाठ का कई स्थानों पर पाठशोधन किया जाना। इसलिए इससे एक टैक्स्ट के रूप में व्यवहार करते हुए, अत्यधिक और

अत्यल्प के औसत तक पहुंचना आसान नहीं है; और जबकि किए गए संशोधनों में से अधिकांश स्पष्ट और आदेशात्मक रूप से किए जाने की आवश्यकता थी। जबकि कई अन्य संशोधन अनुवाद करते समय करने होंगे, कुछ ऐसे भी मामले हैं, जिनमें निकटता से पाण्डुलिपि के प्रमाणों का समर्थन श्रेयस्कर हो सकता था।

किसी दिए गए पाठांश में, यह सुनिश्चित करने की प्रणाली कि पाण्डुलिपि में ठीक क्या वर्णित है, पिछली दो दशाब्दियों से प्रकाशित नहीं हुआ था। इस कारण पर जो कोई शिकायतें थीं, दोनों सम्पादकों ने यद्यपि, उस समय को जिस परिश्रम और प्रभावकारिता से भारतीय भाषा-विज्ञान के पक्ष की प्रगति में नियोजित किया था, उससे वह निश्चित रूप से अस्वीकार कर दी गई थीं। इन्डैक्स वर्बोरम (पृष्ठ 2: वर्ष 1880) की भूमिका में, ह्विटनी कहते हैं-

वास्तव में मतों में भिन्नता होगी कि प्रक्रिया की यह विधि क्या सुविवेचित थी। ठीक वही पाठ देने के साथ, जो पाण्डुलिपियों ने उनको दिया था, क्या उन्हें (उन सम्पादकों को) स्वयं ही दृढ़तापूर्वक नहीं कहना चाहिए था, व्यक्त प्रस्तावों को अपनी टिप्पणियों के लिए रखना चाहिए था। ; और इसके अतिरिक्त, जहां तक संशोधनों की स्वीकार्यता का प्रश्न है और अन्य की अभीष्टता का प्रश्न है, जो समान कारण से नहीं की जानी चहिए थी। यह चाही गई है (इन्डैक्स में), सामान्य रूप से सबका ध्यान सब मामलों में करवाने के लिए, जिनमें एक प्रकाशित पाठ पाण्डुलिपि के पाठ से भिन्नता रखता है, और साथ ही, उनसे भी जो तुलनात्मक रूप से गिने-चुने हैं, जहां पाण्डुलिपियों में आपस में असंगतियां हैं और साधनों को जुटाने में और किसी विशेष मामले में यह निर्धारित करने के लिए कि पाण्डुलिपियों में वास्तव में क्या पठित है।

इस प्रकार संकल्प का आठवां बिन्दु (इसके अतिरिक्त द्वितीय बिन्दु भी) भी इन्डैक्स वर्बोरम द्वारा पूर्ण कर लिया गया था। इन्डैक्स से सम्बन्धित ऐसी समालोचनात्मक टिप्पणियों की अभीष्ट वलगेट पाठ के टैक्स्ट की ग्रन्थमाला की योरोपीय पाण्डुलिपियों की असंगतियों की रपट की तब भी आवश्यकता नहीं थी। यह रपट उसी प्रकार से इस कार्य में दी गई है और इसमें न केवल बर्लिन, पेरिस, ऑक्सफोर्ड और लन्दन की पाण्डुलिपियां सम्मिलित की गई हैं जिनका मुद्रण से पहले मिलान किया गया था, अपितु वे पाण्डुलिपियों जो म्यूनिख और ट्यूबिन्जन की भी हैं, जिनका बीस वर्ष बाद (नीचे देखें, पृष्ठ, 44, टिप्पणी 5, पृष्ठ, 59) मिलान किया गया है, भी सम्मिलित हैं।

इस कार्य का विस्तार पूर्व में किए गए संकल्प से श्रेष्ठतर रूप में-

इस कार्य के लिए सहायक सामग्री टैक्स्ट-संस्करण के प्राक्क्थन में दिए गए संकल्प में ह्विटनी द्वारा तीसरे प्रस्तर में वर्णित ''घोषणा' (पृष्ठ, 18) से बढ़कर है और इसमें काश्मीरी-पाठ की रपट और शंकर पाण्डुरंग पण्डित के प्रमाणों, देशी (भारतीय) व्याख्या के उद्धरण व अनुवाद सम्मिलित हैं। सबसे पहले रोथ ने सावधानी से पैप्पलाद टैक्स्ट के

मिलान का दीर्घ, श्रमसाध्य और कठिन कार्य सम्पादित किया था और इसे ह्विटनी को भेजा था। शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने अपने बम्बई संस्करण में वलगेट पाठ के लिए असंगतियों के प्रमाण दिए थे (ये भारतीय प्रमाण प्रमाण थे : योरोपियन प्रमाण नहीं थे) जो उसकी पहुंच में थे और इनमें केवल पाण्डुलिपियों की असगतियां नहीं थीं परन्तु जीवित वेदपाठियों के टैक्स्ट की भी थीं। उसने अपने टैक्स्ट के अग्रिम पन्ने किश्तों में ह्विटनी को भेजे थे, ताकि वे सब भाग जिनके लिए पण्डित ने व्याख्या प्रकाशित की थी, ह्विटनी के पास उपयोग में लिए जाने हेतु समय से पहुच जाएं, यद्यपि पण्डित के प्रकाशन की तिथि (सन् 1895-98) ह्विटनी की मृत्यु के बाद की है।

कार्यशैली क्रमिक विकास-

पूर्ववर्ती प्रस्तरों में वर्णित विभिन्न सामग्री को विस्तारपूर्वक कहने में लगातार उन्नीस ग्रन्थों में तदनुरूप ह्विटनी का कार्य था और उसने इस कार्य को सन् 1885-86 में ''उचित रूप से प्रारम्भ किया'' था। जैसा कि स्वाभाविक था, जैसे -जैसे वह कार्य में प्रवृत्त हुआ, उसका कार्य को करने का तरीका कुछ अधिक परिपक्व हो गया। मेरे हाथ उसका पूर्ववर्ती चार या पांच काण्डों का ड्राफ्ट है, जिसमें तुलनात्मक रूप से विविध प्रकार के विवरण अत्यल्प हैं। यह तब तक नहीं था, जब तक कि वह अच्छी तरह से द्वितीय विशाल ग्रन्थ (काण्ड 8 से 12) तक प्रगति कर चुका था, वह कार्यशैली में स्थिर नहीं हुआ था जिसका कि उसने बाद में अन्त तक पालन किया था।

ह्विटनी द्वारा कार्य का पुनर्लेखन और संशोधन-

उसके बाद, आरम्भ के ग्रन्थों को उसी शैली में प्रकाशित करने के लिए, जिसमें बाद के प्रकाशित किए गए थे, ग्रन्थों को पुनः लिखने ओर संशोधित करना आवश्यक हो गया। उसने तदनुरूप ही प्रारम्भ के चार खण्डों (तुलना करें, नीचे पृष्ठ, 98) को फिर से लिखा और आगे के तीन खण्डों (काण्ड 6, 7 व 8) के लिए उसने बिना पुनः लिखे हुए आद्योपान्त अत्यधिक संशोधन किया और इस बिन्दु पर, स्पष्ट रूप से वह बीमारी से बाधित हुआ, जो प्राणनाशक सिद्ध हुई। काण्ड-8 के कर्मकाण्डों पर विचार-विमर्श (जो मेरे द्वारा उपलब्ध कराया गया) निस्संदेह रूप से उसका अगला कार्य रहा होता। उसके सामान्य परिचय में बहुत सी बातों को सम्मिलित न करते हुए, ह्विटनी की व्याख्या और अनुवाद की पाण्डुलिपि, जैसी कि उसने अपनी मृत्यु के समय, सन् 1894 में छोड़ी थी, में लगभग 2500 पन्ने थे। ह्विटनी यदि इस के मुद्रित रूप को देखने के लिए जीवित रहता, इस शृंखला का सम्पादक सम्भवतः प्रूफ के एक सैट को पढ़ता और मुक्त भाव से उसके मार्जन पर सुझाव और आलोचना लिखता, जिसे लेखक तब बिना विचार-विमर्श के स्वीकार करता या नकारता; और सम्पूर्ण मामला ऐसी दशा में एक बहुत सामान्य बात की तरह चन्द पंक्तियों में समेट लिया जाता कि यह लेख की अपने प्राक्कथन में उदार आभारोक्ति है।

खोये हुए सूत्रों को क्रमबद्ध करना-

दूसरे तौर पर यह एक सामान्य मामला नहीं है, परन्तु इस जैसे तकनीकी कार्य का, जिसके लेखक की मृत्यु हो चुकी है, विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जबकि वह सम्पादक का गुरु और मित्र रह चुका हो, सम्पादन करना अपेक्षाकृत रूप से एक विचित्र कठिनाई और कोमलता से भरा मामला है। इसने इस तथ्य के कारण कठिनाई बढ़ाई कि बड़ी संख्या में तकनीकी विवरण हैं, बहुत से ऐसे हैं जिनके बारे में सम्पादक को अपने लिए नये सिरे से सीखना होगा और अन्य ऐसे विवरण हैं, जो मौन हैं, जो परिश्रम के दीर्घकाल से लेखक के मन में इतने परिचित या पक्के हो गए थे कि उसने शायद ही उन विवरणों को लिखित रूप से याददाश्त कें रूप में लिख कर रखने की आवश्यकता महसूस नहीं की थी और अब सम्पादक को उनके बारे में अधिक से अधिक अच्छी तरह से मालूम करना है, जितने सबसे अच्छे प्रयास से वह कर सके।

सम्पादक के कार्य से लेखक के कार्य का सम्बन्ध-

यद्यपि ह्विटनी के मुख्य कार्य की पाण्डुलिपि आरम्भ से लेकर अन्त तक लिखी हुई थी, परन्तु यह व्यवस्थित ढंग से पूर्ण नहीं थी। इस प्रकार उसने काण्ड-1 के लिए एक विशेष भूमिका लिखी थी, इसमें यह दिखाया गया था कि अन्य अट्ठारह काण्डों में उनका क्या करने का उद्देश्य था। सामान्य भूमिका का जैसे कि यह है केवल कुछ ही भाग पर कार्य किया गया था; कुछ भागों के लिए केवल अपरिष्कृत रूप-रेखाएं बनाई गई थीं; और बहुत सी अन्य के लिए वे भी नहीं थीं। और बहुत बड़ी संख्या के विवरणों में, जो बड़े और छोटे थे, व्यवस्थित ढंग से दीर्घ और धैर्यपूर्ण परिश्रम करके सन्दर्भों और कथनों को सत्यापित करने और जहां आवश्यकता महसूस हो वहां उन्हें संशोधित करने की आवश्यकता थी और सम्पूर्ण कार्य को एक आदर्श और प्राप्त किए जाने योग्य पूर्णता की आदर्श स्थिति के निकट तक लाने की आवश्यकता थी। जो ये विवरण थे, के बारे में कार्य स्वयं बता सकेगा। परन्तु इस सब के अतिरिक्त, मुद्रक तक कार्य, जिसका वैज्ञानिक महत्त्व स्र्वश्रेष्ठ टाइपोग्राफिकल कार्य चाहता था और मुद्रण में अत्यधिक व्यवहार्य परिशुद्धता की आवश्यकता थी।

कार्य के भाग जिनके लिए लेखक नैतिक रूप से उत्तरदायी नहीं है-

विभिन्न प्रतिभाओं और प्राप्तियों जिनसे विद्वान् बनता है, में कोई भी दो व्यक्ति एक समान नहीं हैं; और विशेष रूप से, किसी निश्चित समस्या के प्रति किन्हीं दो व्यक्तियों की मानसिक प्रवृत्ति भिन्नमति होने की आदी होती है। इन परिस्थितियों के अनुसार यह सम्भव नहीं है कि ह्विटनी की पाण्डुलिपि में सम्पादकीय अनुवृद्धियों या उनमें परिवर्तनों में ऐसी बहुत सी वस्तुएं न हों जिन्हें उसने निश्चित रूप से अस्वीकृत किया होगा। उन्हें, इसलिए निश्चित रूप से इस प्रकार से चिह्नित किया जाना चाहिए कि पाठक उन्हें अनुवृद्धियों के रूप में आसानी से पहचान जाएं और इसके लिए लेखक नहीं अपितु

सम्पादक उत्तरदायी है; और इस उद्देश्य के लिए दो चिह्न चुने गए हैं, ⌈⌉ जो अपूर्ण ब्रैकेट के समान या बिना ऊपरी क्षैतिज रेखा के हैं और जिन्हें ''एल-ब्रैकेट्स'' कहा जा सकता है और ये सम्पादक के नाम (तुलना करें, पी.सी.) के लघु अक्षरों की ओर संकेत करते हैं। चिह्नित अनुवृद्धियों के अतिरिक्त, अन्य टैक्स्ट हैं, जैसे ''अनूदित'', जिन्हें चिह्नित नहीं किया गया है। इसलिए सम्पादकीय अनुवृद्धियों और परिवर्तनों का एक सामान्य विवरण दिया जाना चाहिए।

सामान्य भूमिका-

इसके दो भाग हैं: पहला जो सम्पादक के द्वारा लिखा गया है; दूसरा लेखक द्वारा छोड़ी गई सामग्री से विस्तारित किया गया है।

भाग. 1-

उन शीर्षको के अतिरिक्त जो बिना किसी संदेह के सामान्य भूमिका के अन्तर्गत आते हैं और इन पर द्वितीय भाग के अन्तर्गत विचार किया गया है, इनमें से पर्याप्त बड़ी संख्या में ऐसे हैं जो बृहत्तर हैं फिर भी पर्याप्त उचित रूप से सम्पादक के प्राक्कथन में रखे जा सके हैं। उदाहरण के लिए, ऐसे बहुत से समालोचनात्मक तत्त्वों के विचार-विमर्श हैं, जो ह्विटनी की व्याख्या का विस्तृत भाग बनते हैं। मैंने उन्हें सामान्य भूमिका के भाग. 1 के रूप में मुद्रित किया है। मैं ऐसा विश्वास करता हूँ कि विषय-वस्तुओं के विवरण की सहायता से विद्यार्थी किसी भी वांछित शीर्षक को बहुत शीघ्रता से खोज लेगा।

सामान्य भूमिका भाग. 2-

पाण्डुलिपियों के सम्बन्ध में कुछ सामान्य विवरण और उनको सम्पादित करने का तरीका; और अथर्ववेद संहिता के टैक्स्ट पर पूर्ण रूपेण विचार करते हुए, अवश्य ही जिस की आवश्यकता बनती हैं और अत्यंत उपयुक्त रूप से सामान्य भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसे कार्य के मुख्य भाग से पहले भूमिका के रूप में रखा गया है। भूमिका के लिए ह्विटनी ने काफी मात्र में सामग्री छोड़ी थी। इस सामग्री के कुछ भागों में इतना अच्छा कार्य किया गया था कि जो लगभग मुद्रण के लिए उपयुक्त था: अर्थात् काण्ड 8, संहिता छन्दात्मक रूप में और लगभग सभी (बहुत सौभाग्यवश!) महत्त्वपूर्ण काण्ड जिनमें उसकी पाडुलिपियों का विवरण है। इस तरह की सामग्री सही है, जैसा कि, कण्ड. 10 के पर्याप्त भागों में, काण्ड 2 व 3 (मंत्र, ''सं नो देवीर् अभीष्टये'' और मिलान-ग्रन्थ) में संहिता के क्षेत्र और बनावट एल-ब्रैकेट की अनुपस्थिति से दिखाई देगा, इसे प्रथम भाग में रख जा सकता था, क्योंकि यह सम्पादक के हाथ से लिखा गया था; परन्तु आन्तरिक उपयुक्तता के आधार पर वे सामग्रियां पाण्डुलिपि के विवरण के ठीक बाद में रखी गई हैं।

काण्ड 4, 5, और 6 के लिए (दोहराये गये मंत्रों, टेकों और स्वरांकन के चिह्नों पर)

और काण्ड 9 (टैक्स्ट क बंटवारे पर), ह्विटनी द्वारा स्कैच छोड़े गए थे, ये संक्षिप्त व अपरिष्कृत थे, जो लैड पेन्सिल से लिखे गए थे और (ऐसा प्रतीत होता है) ये उसकी दुर्बलता के दिनों में लिखे गए थे, जबकि वह सोफे या बिस्तर पर लेटा रहता था। मैंने इन स्कैचों का निष्ठापूर्वक प्रयोग केवल उन शीर्षकों का विस्तृत विवरण देने के लिए नहीं किया है, अपितु जिन विषयों पर पर विचार करने की ह्विटनी की अत्यधिक कामना थी, उनको प्रदर्शित करने के लिए किया है, इसके साथ ही प्रयुक्त भाषा का सुझाव देने के लिए यह विवरण दिया गया है। फिर भी, वे अंशों में बहुत अधिक लिखे गए हैं और इस तरीके से लिखे गए हैं कि सम्पादक के कार्य से लेखक का कार्य पृथक् करना शायद ही संभाव्य है या उसी प्रकार से लाभप्रद है। कार्य के अन्तिम रूप या परिणाम को हमारे संयुक्त कार्य के रूप में अनिवार्य रूप से प्रचलित होना चाहिए। काण्ड-7 (बर्लिन टैक्स्ट के वर्तनी विषयक तरीके पर) का स्कैच भी लैड-पेन्सिल के द्वारा बनाया गया ड्राफ्ट था; परन्तु यह एक ऐसा स्कैच था जो स्पष्ट रूप से उपरोक्त अन्तिम वर्णित मामलों से वर्षों पहले बनाया गया था और इसका अस्तित्व केवल आकार और विस्तार को बदलने की आवश्यकता पर निर्भर करता था। यह एक ऐसा कार्य था, जो मैंने ह्विटनी के प्रातिशाख्य में उचित सामग्री के मुक्त प्रयोग के द्वारा कार्यान्वित किया है (तुलना करें, पृष्ठ 73 पर टिप्पणी से)।

काण्ड 9 व 10 पर वापस आते हैं, वे सब काण्डों में दीर्घ हैं, और काण्ड.1 के ठीक बाद में (पाण्डुलिपि में), सम्भवतः अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं और उन में जो कुछ निहित है, उन सब को एक बार ऐसे रूप में रखने पर, जिसे मैं समझता था कि यह अन्तिम रूप है, मैंने यह पाया कि इस प्रकार मिली प्राप्ति के आधार पर, मैं और अध्ययन कर सकता था और कछ नये तथ्यों और सम्बन्धों को खोज निकाल सकता था और उन मामलों में जो पहले से ही आगे बढ़ चुके थे, अधिक महान् निश्चितता प्राप्त कर सकता था। और स्वतंत्र रूप से पुनर्लेखन करके बहुत से परिणामों को अधिक स्पष्ट प्रकाश में रख सकता था और उन्हें अधिक विश्वासोत्पादक ढंग से बता सकता था। एल-ब्रैकेट्स सामान्य रूप से सम्पादक के कार्य को लेखक के कार्य से भिन्न बताते हैं। यदि इन दो काण्डों में, बाद वाला (लेखक का कार्य) तुलनात्मक रूप से छोटा लगता है, तो किसी को इसके सम्पादक के आगे के अध्ययन के लिए बड़े महत्त्व और बहुमूल्यता को नहीं भूलना चाहिए।

वर्णित अपवाद के साथ (काण्ड 2 व 3), सामान्य भूमिका के इस भाग को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करने में और ह्विटनी की विषय-वस्तु द्वारा इगिंत किए गए शीर्षकों तक सीमित करते हुए और निबंध, जो ब्लूमफील्ड के ग्रन्डरिस के भाग हैं, को दोहराये हुए बिना (योजनाबद्ध तरीके से पूर्णता प्राप्त करने में) प्रस्तुत करने में यह सर्वोत्कृष्ट प्रतीत हुआ है। ब्लूमफील्ड की कार्य योजना बिलकुल भिन्न है; परन्तु क्योंकि पर्याप्त संख्या में शीर्षक वास्तव में दोनों में समान हैं, यह श्रेष्ठतर प्रतीत हुआ कि उन पर इस कार्य में वर्णन जितना सम्भव हो सके उतना आगे स्वतंत्र रूप से ग्रन्डरिस के वर्णन से मुक्त होते हुए करना चाहिए।

सम्पादक की अठारह काण्डों (काण्ड 2 से काण्ड 19 तक) पर विशेष भूमिका-

क्योंकि ह्विटनी की पाण्डुलिपि में, उसकी विषय-वस्तु के द्वारा इंगित शीर्षकों को सीमित करने के लिए प्रथम काण्ड का एक संक्षिप्त विशेष प्राक्कथन समाविष्ट था, सम्भवत: उसका इरादा शेष अट्ठारह काण्डों के लिए प्रत्येक का एक विशेष प्राक्कथन लिखने का था। सभी वृतान्तों पर समग्र रूप से प्रत्येक काण्ड के समग्र रूप के लिए कुछ विवरणों से सम्बन्धित सामान्य विवरण दिए जाने की अवश्यकता है और विभिन्न काण्डों के प्रत्येक काण्ड के लिए एक विशेष प्राक्कथन बना कर उचित ढंग से पहले रखे जाने चाहिएं। लेखक के द्वारा तदनुसार, ये अट्ठारह विशेष प्राक्कथन लिखे गए हैं, और कुछ छोटे अपवादों के साथ (तुलना करें, पृष्ठों की 471-2, 739, 792, 794, 814) पूरी तरह से उसके अपने हाथों ही लिखे गए हैं। पर्याय-सूक्त (तुलना करें, पृष्ठ 471) और पर्याय-सामग्री (पृष्ठ 628, 770, 793) के विभाग पर पर्याप्त विस्तार के साथ में विचार किए जाने की आवश्यकता थी; इसी प्रकार दोनों संस्करणों के बीच में सूक्तों की गणना (पृष्ठ 389, 610) और पर्याय विभाग (पृष्ठ 771, 793) से सम्बन्धित विषयों के विवरणों पर विसंगतियों के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया जाना चाहिए था; इसी प्रकार काण्ड-18 की विषय-वस्तु (पृष्ठ 813) में पर्याप्त विचार किया जाना चाहिए था; यद्यपि परिशिष्ट काण्ड-19, शेष टैक्स्ट से अपने विशिष्ट सम्बन्धों के कारण और सभी सहायक वर्णनों (पृष्ठ 895) में अत्यिधिक विस्तृत वर्णन की आवश्यकता थी।

सूक्तों का विशेष परिचय: सम्पादक की सन्दर्भ ग्रन्थ सूची और पूर्वकृत अनुवादों पर विमर्श-

ये समस्त कार्य उस प्रस्तर जिसमें '' अनूदित'' लिखा है, में दिए गए हैं। प्रत्येक सूक्त के परिचय में अनुक्रमणी के उद्धरणों के ठीक बाद में एक प्रस्तर में दिया गया है और सामान्यत: एक कथन, इस बारे में कि सूक्त कहां पाया जाता है, '' पैप्पलाद में पाया गया है'' या अन्य टैक्स्टों में पाया गया है, लिखा गया है ओर एक विवरण कि कैसे सूक्त का प्रयोग किया गया है, जैसे कि ''कौशिक सूत्र में प्रयोग किया गया है'', लिखा गया है। ह्विटनी ने अपनी पाण्डुलिपि में एक विवरण दिया था कि पूर्व में लुडविग, ग्रिल या अन्य विद्वानों के द्वारा सूक्त का अनुवाद कहां किया गया था। वैबर और हेनरी के सम्पूर्ण ग्रन्थ के अनुवाद से, प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में उसने इन्डिशे स्टूडिए (Indische Studieu) या ट्रेडक्शन traduction) का सन्दर्भ देकर स्पष्ट रूप से अपने को सदा के लिए संतुष्ट करने के बारे में सोचा था। एकमात्र संयोग से, ह्विटनी की मृत्यु के बाद, तीन या चार वर्षों के अन्तर्गत एक बहुत बड़ी संख्या में इस वेद (ड्यूसेन, हेनरी, ग्रिफिथ, वैबर, ब्लूमफील्ड द्वारा: देखें सारिणी पृष्ठ 57 पर) के अनुवाद और व्याख्या ग्रन्थ प्रकाशित हुए। केवल ग्रिफिथ का अनुवाद, और वह ही अकेला, पूरा है। जबकि आंशिक अनुवाद और विमर्श, इस तथ्य के अतिरिक्त कि वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और स्वतंत्र ग्रन्थों के माध्यम से फैले हुए हैं,

उनकी विविधता इतनी भ्रमकारी है कि किसी विशेष सूक्त को अपने लिए खोजना कष्टप्रद है कि ठीक कितने अनुवादकों ने इस पर विमर्श किया है और कहाँ किया है। मैंने ग्रन्थों, 1 से 19 (सिवाय 2 व 20 से 23) के 588 में से प्रत्येक सूत्र के लिए इसलिए सारी वांछित पूर्णता के लिए, वर्ष 1898 तक या उस के आस-पास के सूक्तों के अनुवादों और व्याख्याओं की एक सन्दर्भग्रन्थ-सूची बनाने का उद्यम किया है। कुछ सूक्तों के लिए विमर्श की मात्रा विस्तारपूर्वक है: सूक्त 4.16; 5.22; 9.9; 10.7; 18.1; 19.6; के सन्दर्भों से तुलना करें। पहले प्रभाव के रूप में, कुछ लोग इसे ''निन्दनीय अन्योन्य (पारस्परिक) क्रिया'' सोचेंगे कि मुझे सूक्तों के अनुवाद में ग्रिफिथ का कुछ 588 बार, ब्लूमफील्ड का कुछ 214 बार, वैबर का कुद 179 बार, हेनरी का कुछ 167 बार सन्दर्भ देना पड़ा; परन्तु मेरा पक्का विश्वास है कि कार्य के गम्भीर विद्यार्थी सन्दर्भों को अत्यंत उपयुक्त पायेंगे। जैसा के उपरोक्त रूप से वर्णित है, वे प्रस्तर में ''अनूदित किया'' शब्द से आरम्भ किए गए हैं। यद्यपि ये प्रस्तर अधिकतर पूर्णत: सम्पादकीय अनुवृद्धियां हैं, मैंने उसी रूप में इन्हें एल-ब्रैकेट्स से घेरते हुए ऐसे नहीं किया है।

मैंने सदैव सम्बन्धित कार्यों के इन शब्दों को कालानुक्रमिक सिलसिले में रखने में सदैव उद्यम किया है (तिथियों के साथ व्याख्याओं की सारिणी देखें)। ह्विटनी के कथन, जब वह कहता है, ''सभी अनुवादक'', निर्णय लेने के लिए इन तिथियों को विचार में रखते हुए प्रस्तर को इसी प्रकार और ऐसा ही समझो। अन्तिम रूप से, अन्य अनुवादकों के विचारों की सावधानी पूर्वक तुलना प्राय: अर्थप्रकाशन के एक विशिष्ट विषय को प्रकट करेगा जिसे यह कार्य अपूर्ण छोड़ता है।

काण्ड-18 व कुछ अन्य काण्डों के सूक्तों पर जोड़ी गयी विशेष भूमिकाएं-

काण्ड-18 के चार तथाकथित ''सूक्तों'' की संघटक विषय-वस्तुओं का ऋग्वेद आदि से ऐसा सम्बन्ध है कि मंत्रों के विभिन्न वर्गों का या एक-एक मंत्र का पृथक् उत्पत्ति स्थान का उच्चतम श्रेणी का एक स्पष्ट संयुक्त विवरण वांछनीय है; और इसलिए मैंने मंत्रों को उनके उत्पत्तिस्थल के आधार पर या कर्मकाण्डीय प्रयोग या दोनों आधारों पर भागों में बांटते हुए, उन में से प्रत्येक का विवरण देना है। मेरे द्वारा काण्ड-18 के अकेले सूक्त की बनावट का विश्लेषण देना भी श्रेयस्कर लगा। ''अथर्ववेद के कुछ भागों पर श्रद्धांजलि'' (19.23) की विशेष विषय-वस्तुएं ने मुझे प्रयास करके कम से कम इसके अभिप्रेत सन्दर्भों को चिह्नित करने की चुनौती दी; और यद्यपि, मैं पूर्ण रूप से सफल नहीं हुआ हूँ, मैं आशा करता हूँ कि मैंने अभीष्ट सन्दर्भों को स्पष्टता से बता दिया है। मैंने सूक्त 3.26 के शीर्षक पर प्रकट किए गए सामान्य महत्त्व के बारे में लेखक के विचारों से असहमत होने का जोखिम उठाया है और दो प्रस्तरों में मेरे अपने कारण दिए गए हैं। शीप के कवच से बनी तावीज के प्रयोग (सूक्त 6.10) और चन्द्र नक्षत्र-समूहों (19.7) के सूक्त द्वारा भी व्याख्या में जोड़ने का अवसर दिया गया है, जो मैं आशा करता हूँ कि अस्वीकार्य सिद्ध नहीं होंगे।

सूक्तों के आदि और अन्त में जोड़ी गई अन्य सम्पादकीय टिप्पणियां-

ह्विटनी की अन्तिम बीमारी के कारण, जब वह आठवें काण्ड तक पहुचा तो उससे पहले ही उसके संशोधन के कार्य पर विराम लग गया ओर सूक्तों के कर्मकाण्डीय प्रयोगों की टिप्पणियां अपर्याप्त और कम हैं। मैंने काण्ड-8 और उससे आगे भी 10.5, 11.2 और काण्ड-6 के लिए तदनुसार ऐसी टिप्पणियों की पूर्ति की है, जो मैं कर सकता था और यह लगभग उसी रूप में हैं, जिस रूप में ह्विटनी द्वारा प्रयोग की गई थीं; परन्तु 8.8 (''सेनिक संस्कार'') और 10.5 (''जल-विद्युत'') के लिए परिस्थितियों में और अधिक परिपूर्णता 6 की आवश्यकता थी। ह्विटनी निस्संदेह रूप से अपने कार्य में आरम्भ से अन्त तक , प्रत्येक अनुवाक, काण्ड और प्रपाठक के अन्त में, कुछ विवरण, सूक्तों व मंत्रों का कुछ भाग में निष्कर्ष देना चाहता था और अन्य भाग में पुरानी अनुक्रमणी से उद्धरण देना चाहता था। उसके अन्तिम परिशोधन की अनुपस्थिति में, ये कार्य काण्ड-8 के अन्त तक रुक जाते हैं (तुलना करें, पृष्ठ 470 से) और उस बिन्दु से आगे अन्त तक मैंने उनकी पूर्ति की है (तुलना करें, पृष्ठ, 475, 481, 516, 737, और आगे ऐसे ही)।

पर्याप्त सीमा तक अन्य अनुवृद्धियां-

एल ब्रैकेट्स अनुवृद्धियों में से अधिक संख्या में संक्षिप्त वाली हैं; परन्तु काण्ड-18 व 19 की अत्यधिक कठिनाई ने मुझे आखिर के दो सौ पृष्ठों पर यदा-कदा विस्तृत विवरण देने के लिए आकर्षित किया है, जिनकी पर्याप्त संख्या मैं आशा करता हूँ उनकी दिलचस्पी और उपयोगिता से प्रमाणिक सिद्ध होगी। निम्नलिखित शीर्षकों, शब्दो या मंत्रों पर टिप्पणियां उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं: जुड़वां व्यंजन, पृष्ठ 832; 'अञ्जोनाइस्', पृष्ठ 844; 'सु-चाण्स', पृष्ठ 853; 'ऐतत्', पृष्ठ 860; 'चिक्षुपन्', पृष्ठ 875; 'पित्रिधान' (''ग्यारह व्यंजन''), पृष्ठ 876; 'वान्य' आदि पृष्ठ 880; ''संचृत्य'', पृष्ठ 886; 18.4 पर पृष्ठ 86-87; 19.7.4; 26.3; 44.7; 45.2 (''सुहार्'' आदि); 47.8; 55.1, 5] इस ग्रन्थ के बाद वाले खण्ड में सात सारिणियां परिशिष्ट के रूप में जोड़ी गईं- गैर छन्दीय वाक्यांशों की सूची ह्विटनी के इन्डैक्स बर्वोरम की भूमिका, पृष्ठ.5 से ली गई है। सूक्तों की सूची, पृष्ठ 1011 जिसकी कौशिक सूत्रों द्वारा अवहेलना की गई है, वह ह्विटनी की कौशिक सूत्र की हस्त लिखित प्रति से ली गई है। जो बम्बई की व्याख्या के अनुसार बनाए गए उद्धरणों को देखना चाहते हैं, उनके लिए मैंने कौशिक सूत्र की शब्दानुक्रमणिका के उद्धरण दो तरीकों से बनाए हैं। प्रत्येक अध्याय और कण्डिका की संख्या, ब्लूमफील्ड के टैक्स्ट के पुराने पन्नों के ऊपरी दाहिने हाथ पर इस प्रकार लिखने से जैसे यह अपने अध्याय में आरम्भ से लिखा गया है, लिख देने से श्रेष्ठतर रूप से वही उद्देश्य पूरा किया गया है। मैंने सांमजस्य रहित बर्लिन और बम्बई के सूक्तों की संख्या की शब्दानुक्रमणी को एक खेदजनक आवश्यकता की पूर्ति के लिए बनाया है। वलगेट और काश्मीरी अथर्ववेद के पाठों के बीच की शब्दानुक्रमणियां मिलान-ग्रन्थ की टिप्पणियों से बनाई गई हैं, जैसा कि पृष्ठ 95 में स्पष्ट

किया गया है और वलगेट के मंत्र को काश्मीरी अथर्ववेद के टैक्स्ट की ठीक वैसी ही प्रतिलिपि से पाने में यह अस्थायी रूप से सहायता देगा। सूक्तों के शीर्षकों की सारिणी, वास्तव में ह्विटनी के शीर्षकों की प्रतिलिपि है, परन्तु यह सामान्य विषय की अत्यधिक उपयोगी रूपरेखा देती है। ऋषियों के नामों की अनुक्रमणी, ह्विटनी के कागजात में से रफ वाले किसी एक की संशोधित प्रतिलिपि है। इसके आगे मैंने कुछ प्रस्तर जोड़ दिए हैं, जिनमें सामान्य या आलोचनात्मक अवलोकनोपरान्त टिप्पणियां हैं।

बिना-चिह्नित अल्प अनुवृद्धियां और अन्य परिवर्तन-

ये दो प्रकार की हैं। इनमें से पहली प्रकार की अनुवृद्धि में अगणित छिट-पुट अल्प परिवर्तन हैं, जिनके बारे में कोई सन्देह नहीं था, अर्थात् केवल गलतियों के सुधार, अनियमित भूलों की कमियों को पूरा करना और यदा-कदा पद-बन्धों और छूटे गए वाक्यों का सुधार करना रहा है। ह्विटनी की प्रशंसनीय पाण्डुलिपि में केवल कुछ गलतियां ऐसी हैं (2.2.10 पर ऐसी, "thou has" या 2.3.5 की टिप्पणी के अन्त के पास में "be brought" का छोड़ दिया जाना) जिन्हें किसी अच्छे प्रूफ संशोधक द्वारा शुद्ध कर दिया गया होता; परन्तु बहत सी ऐसी गलतियां थीं जो लगातार मूल को या विभिन्न सम्बन्धित ग्रन्थों को सन्दर्भित किए जाने के कारण गलतियों के रूप में पहचानी जा सकतीं थीं। ऐसी गलतियां थीं-मंत्र 13.1.52 व 53 पर ''घ्रैन्सा'' के लिए "heat" के स्थान पर "cold"; मंत्र 6.78.3 पर "thousand" के लिए "hundred" (life-time); मंत्र 19.9.7 पर "Marks" के लिए "Mercury; मंत्र 3.9.2 पर "bulls" के स्थान पर "kine" और मंत्र 1.22.1 पर "bulls" के स्थान पर "bulls"; मंत्र 18.2.13 पर ''ऽवाचां''। के स्थान पर ''वाचां''। मंत्र 18.2.13 पर उसके पाठ में "so let the Acvins make," पठित है, जैसे कि टैक्स्ट ''कृणताम् अच्वीना'' हो। सबसे पहले सूक्त के अन्त में, ह्विटनी का कथन था-''अनुक्रमणी दूसरे पाद की छन्दात्मक अनियमितता की अवहेलना करती है''; यहां पर मैंने ''अवहेलना'' के स्थान पर ''वर्णन किया है'' परिवर्तित किया है। मंत्र 4.12.7 पर उसने "the parts of" छोड़ दिया था; मंत्र 18.1.14 पर उसने "a brother" छोड़ दिया था; मंत्र 4.12.7 पर उसने "which is very propitious" छोड़ दिया था; मंत्र 18.2.46 पर उसने "the fathers" छोड़ दिया था। इस प्रकार के परिवर्तन जिनका अभी उदाहरण दिया है, को अच्छी तरह से चिह्नित किया जा सकता था।

दूसरी प्रकार की अनुवृद्धियां प्रस्तरों से सम्बन्धित कार्य करती हैं, कुछ संख्याओं में, जिनका फिर से बनाने या लिखने में इतने अधिक अल्प परिवर्तन निहित थे कि इन्हें एल ब्रैकेट से इगिंत करना शायद ही व्यवहार्य था। मंत्र 18.3.60 पर दी गई टिप्पणी एक उदाहरण है। इसके अतिरिक्त, बहुत सी टिप्पणियां जिनमें परिवर्तन उचित रूप से चिह्नित किए गए थे, में अन्य परिवर्तन किए गए थे जो शायद ही चिह्नित किए जाने योग्य प्रतीत होते थे, जैसे कि मंत्र 19.49.2 पर या 55.1 पर: तुलना करें, पृष्ठ 806 प्रस्तर 5]

चिह्नित अल्प अनुवृद्धियां और अन्य अल्प परिवर्तन-

इस जैसे किसी कार्य में, जिसमें इतनी अधिक मात्रा में तरह-तरह के विवरण निहित हैं, ये इस प्रकार के हैं कि लेखक इनको ये परिवर्तन नहीं दे सका और कम या अधिक सशोधनों की अपेक्षा करते हुए कई अन्य कथनों का पता लगाया जाना चाहिए था। इस प्रकार मंत्र 19.40.2 पर लेखक, मुद्रक के लिए बनाई गई अपनी प्रति में कहता है- कहता है- ''हमने 'सुमेधास्' का स्वरांकन संशोधित कर दिया है; पाण्डुलिपि और शंकर पांडुरंग पण्डित का पाठ 'सुमेधास्' है''। वास्तव में, इस पाठ में भी '6' 'सुमेधास्' पाठ है और मैंने कथन को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया है: ''[in the edition? we ? should have? rectified the accent ?so as to read] 'सुमेधास्'। बाद के दो ग्रन्थों में किए गए परिवर्तन इस प्रकार के हैं कि इतनी बार मुद्रक की प्रति के पर्याप्त भागों को नए सिरे पुन: लिखा जाना सर्वोत्तम होता। फिर भी दूसरे विकल्प के रूप में यह वांछनीय था कि पुन: लिखे जाने से बचा जाए और दूसरे परिवर्तन किया जाए और उसे इस प्रकार जोड़ जाए कि ठीक-ठाक किए गए प्रस्तर का परिणाम किसी प्रकार की अस्पष्टता का प्रदर्शन न करे। इन दोनों सीमाओं के बीच संशोधन की सीमाएं आसान नहीं हैं; और जैसा कि ठीक अभी दिए गए उदाहरण से प्रदर्शित किया गया है, किसे चिह्नित किया जाए और किसे चिह्नित न किया जाए के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची गई है। जैसा कि उपरोक्त रूप से वर्णित है, यह स्पष्ट है कि ये सब मामले बहुत आसान रहे होते यदि लेखक ने मुद्रण में कार्य को आरम्भ से अन्त तक देखा होता।

लेखक की पाण्डुलिपि का संशोधन और सत्यापन-

अब तक लेखक की पाण्डुलिपि पर किए गए सुधार पर विमर्श किया गया है जिनमें अधिकांश रूप से लेख की कार्ययोजना के अपूर्ण भागों पर अनुवृद्धियां की गई है और शीर्षक पृष्ठ पर सुधारों में ''पूर्णता के निकट लाया गया'' से उल्लिखित किया गया है। कार्य के वास्तविक संशोधन में प्रत्येक प्रकार की व्याख्या के प्रत्येक कथन का जहां तक सम्भव था सावधानी से सत्यापन किया गया और अनुवाद का मूल से एक सावधानी पूर्ण तुलना करते हुए सत्यापन सम्मिलित है। इसका यह अभिप्राय है कि समानान्तर टैक्स्टों से वास्तव में उद्धरण खोजे गए हैं और उनके पाठों की नये सिरे से तुलना की गई है ताकि यह पुष्टि हो सके कि उनके अथर्वण पाठों से असंगति की सूचनाएं सही हों। यह कार्य बहुत अधिक समय लेने वाला और श्रमसाध्य था; इसकी कुछ कठिनाइयों और जटिलताओं के लिए नीचे पृष्ठ 64 पर देखें। सत्यापन का और अधिक अर्थ यह है कि ह्विटनी के मिलान-ग्रन्थ की टिप्पणियां, बम्बई संस्करण और रोथ के काश्मीरी टैक्स्ट के मिलान-ग्रन्थ को लेखक की अथर्वण पद्धति के अन्तर्गत पाई जाने वाली असंगतियों की सूचनाओं की परिशुद्धता के सत्यापन की पुष्टि और नियमित रूप से विचार-विमर्श किया गया था। इसके अतिरिक्त, बृहत् अनुक्रमणी के टैक्स्ट और कथन का सावधानी से अध्ययन किया गया था और उनके

संसर्ग से उसके बाद, संहिता के मंत्रों का छन्द-परीक्षण और पाद-विभाग किया गया था; और ह्विटनी के कथन की सूत्रों से तुलना के लिए कौशिक सूत्र और वैतान सूत्र के सन्दर्भों को नियमित रूप से प्रस्तुत किया गया था। इन मामलों से सम्बन्धित तकनीकी विवरण सामान्य भूमिका के पृष्ठ संख्या 64 के प्रारम्भ से दिए गए हैं। क्योंकि ब्लूमफील्ड और गार्बे के काश्मीरी टैक्स्ट की भोजपत्र की छाल वाली पाण्डुलिपि की ठीक-ठीक शानदार प्रतिलिपि का वास्तविक प्रकटन इस कार्य से पूर्व में ही हो चुका था, मेरे द्वारा इस ठीक-ठीक प्रतिलिपि का प्रयोग न करने के कारण पर पृष्ठ संख्या 85 के अनुसार विचार किया जा सकता है।

संस्कृत कार्य का स्वरांकन-

स्वरांकित टैक्स्ट के पाठ की सूचना में शब्दों को निरपवाद रूप से स्वरांकित किया गया है। काश्मीरी टैक्स्ट को स्वरांकन के बिना सम्मिलित किया गया है, यद्यपि इसमें यदा-कदा स्वरांकित वाक्यांश हैं। लेखक अनुवाद में, अक्सर संस्कृत शब्दों का कोष्ठकों में या अन्यथा परिचय देता है और सामान्यतः उनके स्वरांकन का संकेत देता है। सम्पादक इसके और आगे बढ़ा है: उसने अनुवाद में मूलशब्दों के स्वरांकन का संकेत दिया है जो सम्बोध नवाची शब्दों में मिलता ('सदान्वास' में है, मंत्र 2.14.5 में) है, सिवाय दुर्लभ शब्दों के मामलों में जिनके मूलशब्द का ज्ञात नहीं है (इसका उदाहरण 2.4 पर है); और ऐसे मामलों में जिनमें समास का एक शब्द ही दिया गया है, यदि शब्द स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त होगा तो उस शब्द का क्या स्वरांकन होगा यह उसने इंगित कर दिया है (ऐसा '-नीथा' मंत्र 18. 2.18 पर 'सहास्रणीथ' के भाग के रूप में है; '-क्षेत्र' मंत्र 3.3.4 पर 'अन्यक्षेत्र' के भाग के रूप में है; तुलना करें मंत्र 2.8.2 से)।

प्रति संदर्भ-

इस कार्य के मुख्य उद्देश्य को छोड़कर, अधिक निकट के निश्चयात्मक शब्दों की आधारशिला अभी प्रस्तुत होनी है, यह क्रमानुगत पाठ की अपेक्षाकृत परामर्श और सन्दर्भ के रूप में प्रयुक्त होने योग्य है। मैंने एक मंत्र या एक टिप्पणी से दूसरे पर प्रति-सन्दर्भों को और यहां तक कि ऐसे मंत्रों में जो बहुत भिन्न नहीं थे कभी कभार इसीलिए नहीं जोड़ा है; उदाहरण के लिए तुलना करें, मेरा सन्दर्भ मंत्र 7.80.3. से 79.4 या मंत्र 6.66.2 से 65. 1 तक।

अंग्रेजी में व्यक्तिवाचक नामों के सम्बन्ध में भाषा की वर्तनी व्यवस्था-

इस ग्रन्थ का अनुवाद मुख्य या एकल भाग है जो कि उन पाठकों की रुचि के अपेक्षित हो सकता है जिनको संस्कृत का तकनीकी ज्ञान नहीं है। वहां पर ग्रन्थ में पाए जाने वाले व्यक्तिवाचक नामों को आसानी से उच्चारित किए जाने योग्य बनाने के क्रम में लेखक

ने लिप्यंतरण के संस्कृत शब्दों को संस्कृत के रूप में मुद्रित करने के किंचित नियमों की अवहेलना की है और उदाहरण के लिए 'pūshan' और 'Purandhi' के स्थान पर 'pūṣan' और 'Puraṁdhi' लिखा है और यद्यपि कभी-कभी विचित्र स्वरों के विशिष्ट चिह्नों को बनाए रखा है (जैसे कि 'अंगिरास्' और 'वरुण' के मामले में) जहां वे सामान्य जन को असमंजस में नहीं डालते हैं। नियमों का कड़ाई से पालन किया जाना अधिक आसान होता; परन्तु सम्भवत: परन्तु जैसा किया गया है, वैसा करना कुछ असंगतियों के मूल्य पर भी श्रेष्ठतर था (तुलना करें, Vritra, Vṛitra, Vṛtra; Savitar)।

सम्पादकीय त्रुटियां और गलतियों के अवसर-

इसका महान् वैज्ञानिक प्रतिष्ठा के अनुरूप प्रकटन हो, यह सुनिश्चित करने के लिए कि ह्विटनी के कार्य में उदारतापूर्वक परिश्रम और कष्ट प्रयुक्त किया गया है; परन्तु यह कार्य सुविस्तृत है और इस प्रकार के विवरणों की जानकारी से परिपूर्ण है कि उनसे सम्बन्धित गलतियों से बचने के लिए अनवरत सावधानी की आवश्यकता है। इस कथन के कुछ अत्यधिक आकर्षक दृष्टान्त पाये जा सकते हैं8। भाषा की वर्तनी या संक्षेपण की तुच्छ असंगतियों के बावजूद, मेरा विश्वास है कि वास्तविक आधारभूत तथ्यों पर उच्च स्तर की परिशुद्धता प्राप्त की गई है। मैं यह आशा करने में कोई धृष्टता नहीं करता हूँ कि कार्य में मेरे सहकर्मी त्रुटियां और अपूर्णतायें नहीं खोज पायेंगे; परन्तु मैं प्रसन्न होऊंगा यदि वे उस का छिद्रान्वेषण नहीं करेंगे। भारत द्वारा पाश्चात्य जगत् को बहत कुछ सिखाया जाना है: यह बहुत कुछ जो न केवल अपनी वैज्ञानिक रुचियों के लिए मूल्यवान् है, अपितु हमारे आचार-व्यवहार और जीवन के लिए भी मूल्यवान् है। समय और शक्ति को अपने सहचर कार्यकत्ताओं या जो दिवंगत हो चुके हैं, की उपलब्धियों के महत्त्व को घटाने से अत्यंत श्रेष्ठतर है कि भारतीय बुद्धिमत्ता का उपयोग किया जाए।

श्री लैनमैन ने अपनी उपरोक्त समीक्षा में यह विश्वास प्रकट किया है कि ह्विटनी द्वारा वास्तविक आधारभूत तथ्यों पर उच्च स्तर की परिशुद्धता प्राप्त की गई है। उनके द्वारा यह भी कहा गया है कि वे यह आशा करने में कोई धृष्टता नहीं करते हैं कि श्री ह्विटनी के कार्य में लैनमैन के सहकर्मी त्रुटियां और अपूर्णतायें नहीं खोज पायेंगे; यदि वे उस का छिद्रान्वेषण नहीं करेंगे तो उन्हें प्रसन्नता होगी, इस प्रकार हम यह पाते हैं कि जहां तक अथर्ववेद के पाठालोचन और शुद्ध टैक्स्ट प्राप्त किये जाने का प्रश्न है, इस कार्य में ह्विटनी की अप्रतिम भूमिका रही है और वेदविद्या के जिज्ञासु उनके इस योगदान के लिए उन्हें सदा याद रखेंगे।

पाद टिप्पणियां

1. अथर्ववेद संहिता (प्रकाशक हार्वर्ड यूनिवर्सिटी)- लेखक..विलियम ड्वाइट ह्विटनी- 1905 के ह्विटनी के जीवन के संक्षिप्त आलेख का पृष्ठ 44 पर वैबर का पत्र।

2. वही ....पृष्ठ 44 पर रोथ का पत्र।
3. वही ....पृष्ठ 117।
4. रोथ-ह्विटनी के अथर्ववेद के द्वितीय ग्रन्थ- पृष्ठ 17 पर। दिनांक 28 मार्च, 1881 को सम्पादक को लिखे गए पत्र में रोथ के एवस्तन स्टूडियोज से हुई विचारमग्नता के बारे में ह्विटनी कहते हैं: ''मुझे भय है कि मैं अकेला अब भी अथर्ववेद के ग्रन्थ के द्वितीय भाग को बनाने के लिए अनुग्रहीत होऊंगा और अगले वर्ष इसको शान्तिपूर्वक स्थापित करूंगा''। पुनः जून 17,1881 को वह लिखते हैं: ''मैंने ग्रन्थ के द्वितीय भाग पर कार्य प्रारम्भ कर दिया है और इसे सीधे आरम्भ से अन्त तक पूर्ण करने का संकल्प लिया है''।
5. वही ..सी आर लैनमैन की टिप्पणी -जनरल स्कोप आफ वर्क के पृष्ठ 25 पर। अन्तरात्मा के लिए मैं अनावश्यक रूप से भ्रमित करने वाले उपविभागों को जारी करने के व्यवहार, जैसे Bunde और Halften तथा Abterilungren और Lieferungen के प्रति अपना विरोध प्रकट करता हूँ -इस सम्बन्ध में, मैं यह और कुछ कहना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ के मुख्य भाग की पृष्ठ संख्या जो कि मुख्यतः केवल मुद्रक और जिल्दसाज के काम की है और उद्धरण के उद्देश्य से अल्पतम प्रभाव की है, को पृष्ठ के अन्दरूनी जगहों में रख दिया गया है ताकि ग्रन्थ और सूक्त जो कि उद्धरण को पाने के लिए प्रधान महत्त्व के हैं, को स्पष्ट और सुविधाजनक रूप से बाहरी भागों में प्रदर्शित किया जा सके। मैं आशा करता हूँ कि तकनीकी पुस्तकों के प्रयोग करने वालों की सुविधा के लिए ऐसे पुस्तकों के प्रकाशकों द्वारा ऐसा अधिकाधिक आदर आम हो सकता है।
6. वही ..सी आर लैनमैन की टिप्पणी -जनरल स्कोप आफ वर्क के पृष्ठ 25 पर। प्रकाशित इन्डैक्स में केवल शब्द और सन्दर्भ हैं। यह अपेक्षाकृत अधिक परिपूर्ण ह्विटनी द्वारा लिखे गए 1721 आठ पन्नोंवाले पृष्ठों की पाण्डुलिपि के इन्डैक्स से बनाया गया है, जो सन्दर्भ को उद्धरित करती है, जिसमें शब्द मिलते हैं और जो वर्तमान में मेरे हाथों में उपलब्ध है।
7. वही ..सी आर लैनमैन की टिप्पणी -जनरल स्कोप आफ वर्क के पृष्ठ 26 पर। यहां यह वर्णित किया जा सकता है कि लघु सूक्तों के लिए (ग्रन्थ 1 से 7 तक) प्रयुक्त कर्मकाण्ड के प्रयोग पुस्तक की भूमिका में दिए गए हैं; परन्तु इसके बाद के दीर्घ सूक्तों के लिए हैं, वे सामान्य तौर से और अधिक सुविधा के लिएसम्बन्धित मंत्र के नीचे रखे गए हैं।
8. वही ..सी आर लैनमैन की टिप्पणी -मीनिंग आफ ''रिवाइज्ड एण्ड ब्रौट नियरर टु कम्पलीशन'' के पृष्ठ 26 पर। इस प्रकार मंत्र 19.50.3 पर लेखक ने टैक्स्ट में ठीक 'तरेम' के नीचे 'उसकी टिप्पणी की इस प्रथम पंक्ति में 'तरेम' के स्थान पर 'तरेयुस्' लिखा गया है। यह चिंतातुर करने वाली गलती की लेखक और डा0 राइडर और एक बार मैंने और क्षमा कर दिया है। यद्यपि यह गलती सुधार के लिए अन्तिम समय में खोजी गई थी- मंत्र 19.27.7 पर, क्योंकि काश्मीरी अथर्ववेद में वलगेट पाठ 'सूर्यम्' के लिए मेरे द्वारा सुर्यम्' जोड़ा गया था, साधारण रूप से यह इस कारण था कि रोथ के मिलान ग्रन्थ में 'सूर्यम्' पाठ दिया गया था; परन्तु इसके प्रतिकृति में देखने पर फोलिओ 136 ए की अन्तिम पंक्ति मुझे मुद्रण के लिए प्लेट बन जाने के बाद मिली, इसमें यह तथ्य

कि भोज-पत्र में वास्तव में 'सुर्यम्' पाठ था और यह गलती रोथ की थी- मंत्र 19.24. 6 के द्वितीय चरण के सम्बन्ध में यह प्रतीत होता है कि भाग्य के द्वारा यह निर्णय लिया गया था कि यह गलती बनी रहेगी। यह पाण्डुलिपि में 'वापीनाम्' पाठ था। यह बर्लिन संस्करण की पाद-टिप्पणी 'वापीनाम्' (प्रथम गलती) के रूप में सूचित की गई है। सम्पादकों ने पाण्डुलिपि के पाठ को 'वचनम्' में संशोधित करने का विचार किया, जो यद्यपि टैक्स्ट में 'वचानाम्' के रूप में मिसप्रिन्टेड है (दूसरी गलती)। [अनुमान का पाठ 'वचानाम्', यदि यह सही मुद्रित होता तो भी एक असफल अनुमान माना गया है।] टिप्पणी की तीसरी पंक्ति में, ह्विटनी ने लिखा है, ''हमारे टैक्स्ट का 'वचानाम्' आदि'', (तीसरी गलती)। इसे मैंने 'वचनाम्' में संशोधित किया है और प्रस्तर के अन्त के निकट एक टिप्पणी में जोड़ा है कि वह अनुमान ''मिसप्रिन्टेड वचानाम्'' था। मिसप्रिन्ट के सम्बन्ध में मेरी टिप्पणी दूसरे प्रूफ में सही रूप मे मुद्रित हुई थी; परन्तु फाउन्ड्री प्रूफ में, किसी गलती से यह ''मिसप्रिन्टेड वचानाम्'' बना रह गया (चौथी गलती)। चौथी गलती को आशा है कि मैं प्लेट में सफलतापूर्वक सुधार दूंगा।

9. विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा सन् 1960 में प्रकाशित विश्वेश्वरानन्द-भारतभारती-ग्रन्थमाला-13 के अथर्ववेद की भमिका के पृष्ठ-21 से।

✦✦✦

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः। -अथर्व. 2.9.5
इलाज करे और रोग को निकाल दे, वही श्रेष्ठ चिकित्सक है।

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्। -अथर्व. 2.30.4
जो तेरे अन्दर हो वही बाहर हो, जो बाहर हो वही अन्दर हो।

व्यापस्तृष्णयाऽसरन्। -अथर्व. 3.31.3
पानी को प्यास नहीं लगती।

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्। -अथर्व. 4.18.6
जो किसी काम को कर नहीं सकता, पर करने बैठ जाता है वह हाथ-पाँव तोड़ बैठता है।

अहं सुमेधा वर्चस्वी। -अथर्व. 19.40.2
मैं बहुत बुद्धिमान् और वर्चस्वी बनूँ।

भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसदि। -अथर्व. 20.13.3
प्रभु के सत्सङ्ग से हमारी बुद्धि तीव्र और भद्र हो जाये।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (20-33) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

जीवात्म-सम्बन्धी वैदिक चिन्तन एवं विभिन्न दृष्टिकोण

–प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

सम्पादक, वैदिक वाग् ज्योतिः
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

ऋग्वेद की शाकलसंहिता में जीवात्मा को असु, जीव तथा आत्मा कहा गया है।[1] वेदों के अनेक स्थलों में जीव और उसके स्वरूप का वर्णन मिलता है।[2] वेदों के अनेक सन्दर्भों से अग्रलिखित तीन बातें परिलक्षित होती हैं–

1. जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह अजर-अमर है।
2. जीवात्मा कर्मानुसार पुनर्जन्म में जाति, आयु व भोग पाता है। वह पुनः-पुनः मानव या जीव-जन्तु का चोला पा सकता है।
3. यह पुनर्जन्म अनेक लोक-लोकान्तरों में हो सकता है अथवा उसे स्वर्ग, नरक और मोक्ष की स्थिति प्राप्त होती है।

इन उक्त मान्यताओं का समर्थन ऐतरेय ब्राह्मण[3], शतपथ ब्राह्मण[4], ताण्ड्य ब्राह्मण[5], बृहदारण्यकोपनिषद्[6], प्रश्नोपनिषद्[7], छान्दोग्योपनिषद्[8], मुण्डकोपनिषद्[9], माण्डूक्योपनिषद्[10], श्वेताश्वतरोपनिषद्[11], श्रीमद्भगवद्गीता[12], निरुक्तशास्त्र[13], न्यायसूत्रभाष्य[14], वैशेषिक दर्शन[15] और मीमांसादर्शन[16] आदि में भी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त भारतीय अवैदिक दर्शन में जैन-बौद्ध मान्यताएँ इस विषय में लगभग वैदिक मान्यता जैसी ही हैं। और तो और, भारतेतर दार्शनिक चिन्तनों में भी आत्मा की अमरता का सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में पाया ही जाता है। यहूदियों ने उसे Gil Gul Neshamoth नाम से कहा है। विश्व के प्राचीन धर्मों में से पारसियों की धर्मपुस्तक जन्दावेस्ता में एक गाथा है कि शुभकर्मी जीव को मरणोपरान्त उस लोक में एक सुन्दर स्त्री से सामना होता है जिसे बाद में उसकी अन्तरात्मा बताकर स्पष्ट किया गया है। वहां चार प्रकार के स्वर्ग बताये गये हैं; चिन्तन स्वर्ग, सुशब्द स्वर्ग, सुकर्म स्वर्ग और अनन्त स्वर्ग (प्रकाशयुक्त स्वर्ग)। यह कठोपनिषदुक्त स्वर्ग एवं मोक्ष अवस्था या लोक ही है।

ब्रिटिश द्वीपों में भी ईसाई धर्म फैलने से पूर्व जो द्रदु दर्शन व्याप्त था, उसमें भी इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका[17] के अनुसार उसकी मुख्य दो मान्यताओं में से एक जीव की अमरता मुख्य थी। प्रारम्भिक ईसाइयों में इसे Jerome तथा Monehens एवं Origenes

ने मान्यता दी थी। मत्ती रचित सुसमाचार (बाइबिल) के पर्व 11 की आयत 10 से 13 तक में योहनना पुरोहित को स्पष्ट रूप से पूर्व जन्म का एजियाह नबी बताया गया है। कहीं जाकर वर्षों बाद छठी शताब्दी में जस्टीमियन ने राजाज्ञा प्रसारित करके पुनर्जन्म को अमान्य घोषित किया था। परन्तु अब Spiritualist Churches की स्थापना के साथ इस शताब्दी में जीव की अमरता पर प्रचुर साहित्य और प्रयोग प्रसारित किये गये हैं। मृतसम्बन्धियों की आत्माओं को बुलाना तथा आत्मिक शक्ति से रोगोपचार आदि आज योरूप की प्रमुख Hobby हो गये हैं।

दूसरा सेमेण्टिक धर्म इस्लाम का है। वे जीव को अनादि तो नहीं पर अनन्त समय तक रहने वाला अवश्य मानते हैं और यह अनन्तता एक मानव चोले के बाद फिर बहिश्त या दोजख में बीतती है। परन्तु कुरान (सूरत वाकिया 57-61) तथा सूरत वक (28, 35, 243) में एक जीव के पशु और फिर मानव चोला पाने का जिकर है ही।

इसके अतिरिक्त आरफिस सम्प्रदाय तथा दर्शनकार पाइथागोरस, इम्पीडोसिल, सुकरात, प्लेटो, जैन, इसीक्यूरस, प्लोटोनियस, सिसरो, लीलिंग, सिथली, कवि बटलर और शेक्सपियर की पुस्तकों में जीव की अमरता के प्रसंग प्राप्त होते हैं।

भौगोलिक दृष्टि से मिश्र, अमेरिका रेड इण्डियन प्रदेश, मेडागास्कर, अफ्रीका महाद्वीप के अन्य देश, उत्तरी व दक्षिणी अमेरिका के विभिन्न अंचल, ग्रीनलैण्ड, न्यूजीलैण्ड, इन्डोनेशिया, बल्गेरिया और आर्कटिक प्रदेश में व्याप्त दन्तकथाओं और सामाजिक जीवन में भी जीव की अमरता की बात मूल रूप में व्याप्त पायी गयी। ऋग्वेद[18] में वर्णित मरणोत्तर काल की तीन स्थितियां प्रायः हर देश और हर दर्शन में पायी गयी हैं।

जीव प्राकृतिक पदार्थों से नहीं बनता, एक जीव दूसरे जीव को जन्म नहीं देता। जीव रासायनिक प्रक्रिया या उस प्रक्रिया से उत्पन्न नवीन पदार्थ भी नहीं है। Elimination के सिद्धान्तानुसार जीव न भावात्मक गुण है न व्यक्तिगत रुझान अर्थात् Temprament है जो कि प्रायः उत्तराधिकार से मिलती है। जीवात्मा अनुभूति (Sensation) भी नहीं है। वह एक विचार शृंखला या Thought भी नहीं है। क्योंकि पागलों में वह अनुपस्थित है, यद्यपि वे जीवधारी हैं और जीवित हैं। वह सकारणता reason और निष्कर्ष या अहंकार भी नहीं है। इसी प्रकार यह शरीर, इसकी कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां या बुद्धि केन्द्र भी आत्मा नहीं है। यदि जो आत्मा का स्वतन्त्र अनादि, अनन्त अस्तित्व है और वह अजर-अमर है, तो वह ईश्वर का अंश भी नहीं है। अंश में पूर्ण के गुण होने चाहिए। अंश के पूर्ण से अलग होने और उसमें पुनः मिलने का काल विशेष होना चाहिये। अद्वैतवादी सुख-दुख का भोक्ता बुद्धि को मानते हैं, पर बुद्धि तो जड़ है। इस प्रकार कई शोधों में अद्वैतवादियों का दृष्टिकोण असंगत पाया गया है।[19] इस विषय में मरणासन्न व्यक्ति पर एलोपैथिक डॉक्टर ईकोहेरन (Echo Heren) ने कई परीक्षण किये हैं। इसमें मस्तिष्क के पंचर हो जाने के बाद भी एक रोगी को यन्त्रों और दवाइयों से कुछ समय तक जीवित रखा गया था। आत्मा को उसके कार्यों से अनुमान में ला सकते हैं। वह शरीर-रथ का सारथी है, श्वास-निश्वास तथा पलक

झपकना चालू रखता है और क्षतिग्रस्त अवयवों को पूरा करता रहता है, वह ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में सम्पर्क बनाता है। वह स्मृतियों के भण्डार को संजोकर रखता है जिसमें कृतित्त्व (इच्छा, द्वेष व प्रयत्न), भोक्तृत्व[20] (सुख, दुःख भोगने की अनुभूति) तथा ज्ञातृत्व (ज्ञानार्जन की भूख) है। वही जीव है। देह में जीवात्मा हिरण्यय कोष में निवास करता है जो हृदय के पास है।[21]

जीव के पुनर्जन्म के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाणों का विवेचन करते समय सबसे पहली बात जो द्रष्टव्य है वह है हमारे शरीर का नैरन्तर्य। आयु के साथ सारे कोष और कोशिकाएँ बदल जाते हैं, पर मैं वहीं रहता हूँ। वर्तमान में उपलब्ध समस्त साक्ष्यों के आधार पर जीवन सदा जीवन से ही उत्पन्न होता है, जड़ से नहीं। इसकी पुष्टि डेविड ह्यूम के प्रसिद्ध सिद्धान्त से भी होती है कि Cogeto ergo sum (मैं सोच सकता हूँ, इसलिए मैं हूँ) सोचने की क्रिया का अधिष्ठाता जीव है।

जीव की अमरता को वैज्ञानिक उपकरणादि से भी सिद्ध करने का बहुत प्रयत्न किया गया है। किरलियन फोटोग्राफी मनुष्य के शरीर से निकले विद्युत् शक्ति लाइनों (lines of force) को अंकित कर लेती हैं और इसे बाद में डॉ. वाल्टर किलनर ने human aura (मानवीय चेतना) का नाम दिया। बीमार लोगों में यह चेतनता एक-सी पायी जाती है। यह चेतना-273^0 से. अर्थात् absolute zero पर हर परमाणु की अलग-अलग होती है और निरन्तर बनी रहती है। यह चेतनता ही दिल धड़काती है। विभिन्न परमाणु की frequency अलग-अलग होती है। परस्पर सम्पर्क में आने पर जल कैटेलिस्ट का काम करता है और चेतन जीव में यह चेतना या ऊर्जा बदल जाती है। पर प्रश्न तो यह है कि मिलने के विविध अनुपात का गणित ज्ञान और उसका संयोजक कौन है? जो संयोजक है वही तो जीव है। मनुष्यों में विचार, बुद्धि, चित्त और स्मरण क्रिया का स्रोत भौतिक नहीं हो सकता। इस प्रकार की ऊर्जा निराकार और पराभौतिक है। कोई ऊर्जा नष्ट नहीं होती है। सो मरे उपरान्त इस ऊर्जा ने अवश्य अन्यत्र स्थान ग्रहण करना ही है। इस प्रकार वैचारिक और मानसिक नैरन्तर्य स्वयं सिद्ध प्रत्यक्ष है। यह भी स्पष्ट है कि पूर्वगत क्रिया से विचार बनते हैं और वे अमर हैं। पश्चिम में अभिमर्ष और मार्जिन तथा उपदेश (हिप्नोटिज्म) पर परीक्षण किये गये हैं, वे मानव की सुप्त स्मृतियों को उछालने का प्रयत्न ही हैं। ऐसा विद्वानों ने अपने शोध ग्रन्थों में निर्देश किया है।[22] इसी प्रकार मृतात्माओं से सन्देश प्राप्त करने की प्रणाली के प्रभूत परीक्षण योरुप तथा अमेरिका में हुए हैं। और वे प्रायः 80 प्रतिशत सत्य सिद्ध हुए हैं। प्लेनचिट के प्रदर्शन भी इसी प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं। विद्वानों के अनुसार अब तो ध्यानमग्न (मीडियम) ने मृत व्यक्तियों के फोटो तक खींचे हैं। उन विद्वानों का यह निष्कर्ष रहा है कि आत्मा के कई भाग होते हैं। इसका एक भाग जन्म-मरण में आता है तथा दूसरा नैरन्तर्य से उस पर शासन करता है।[23] इस नैरन्तर्य के विरुद्ध स्मृति-नाश का भी प्रबल प्रमाण बखाना जाता रहा है। पर स्मृति तो एक जीवन की घटनाओं की भी नहीं रहती। फिर पशु-पक्षी की योनि से आने वाले जीवों के मानस पर किस बात की स्मृति बनी रहे?

ऋग्वेद[24], मनुस्मृति[25], योगदर्शन[26] तथा धनवन्तरि के शरीरशास्त्र[27] में कुछ स्थितियों में पूर्व जन्म स्मृति सम्भाव्य कही है। फिर स्वप्न में दृष्ट घटनाएँ तथा पूर्वाभास आदि संगृहीत घटनाएँ होती हैं, जो विभिन्न क्रम से उद्‌भासित होती रहती हैं तथा पश्चिम में परामनोविज्ञान ने तो इच्छा शक्ति (will power) से अमेरिका के रैव. नामरमन विनसैण्ट पोल ने जीवित व्यक्ति के मृतसम्बन्धियों की आत्माएं बुलाकर उनसे प्रश्नोत्तर कराके clairvoyance का सिद्धान्त प्रस्फुटित किया है। उसकी तो मान्यता है कि मानव स्पर्श से पूर्व सद्योत्पन्न बालक में पूर्वानुभूति और आह्लाद भरा होता है। अमेरिका तथा भारत के कई पैरासाइकोलाजी विभागों द्वारा पूर्वजन्म स्मृति की अनेकों घटनाओं का उल्लेख अपने अनुसन्धानों में किया गया प्राप्त होता है।[28]

जीव के जन्म व पुनर्जन्म के कारणों से सम्बन्धित कर्म और कर्मफल व्यवस्था वेदों के अनुसार अविरुद्ध रूप से सिद्ध है। वेदों के कई मन्त्रों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।[29] नियतिवाद जो महाभारत की मङ्किगीता में है और जिसका संकेत पाणिनी के सूत्र[30] में मस्करी नाम से है, वह तो एतद्‌विषयक विपुल साहित्य का ऐक्सेप्शन (व्यतिक्रम) मात्र है। और वह कर्मविभाजन अर्थात् प्रारब्ध-सञ्चित-क्रियमाण के प्रथम तृतीय अंश के ही अन्तर्गत आते हैं। प्रत्येक प्राणी की इच्छा से देवेच्छा का कोई समन्वय नहीं है और सञ्चित कर्म भुगतने से ही नष्ट होते हैं तथा सञ्चित कर्म भुगतने को एक जन्म काफी नहीं है, न राज्य व्यवस्था ही सही-सही फल दिला सकती है। राज्यव्यवस्था केवल दण्डव्यवस्था है। दण्ड की प्रबलता हर देश के राजनैतिक और आर्थिक चिन्तनानुसार मानी गयी है। पूर्ण कर्मफल व्यवस्था तो सर्वद्रष्टा ईश्वर के ही हाथ में छोड़नी होगी और इसी हेतु जन्म-जन्मान्तर तथा योनि-चक्र की रचना हुई है। महाभारत[31] के अनुसार मनुष्य जिस-जिस शरीर (या इन्द्रिय) से जो-जो कर्म करता है उसी-उसी इन्द्रिय से उस-उस कर्म का फल तदनुरूप शरीर में भोगाया जाता है।

कर्मफल के विषय में एक वैदिक मान्यता ऐसी है कि जो अन्य सम्प्रदायों में नहीं है। और वह है पापों का किसी सत्ता द्वारा क्षमा न किया जा सकना। न्याय के सिद्धान्त की यही माँग है। कर्मफल सिद्धान्त विश्व में न्याय और व्यवस्था का आदि स्रोत है। भौतिकी का परम विख्यात सिद्धान्त भी यही है कि हर क्रिया की बराबर परिमाण में प्रतिक्रिया होती है।[32] हाँ ईश्वरीय व्यवस्था में नैतिक सुधार के सिद्धान्त का कर्मफल में सम्मिश्रण अवश्य है। हर कर्म के दो फल वैदिक मान्यता में है :-एक सदा दृष्टिगोचर तथा दूसरा संगृहीत या संचित जिसका फल मरणोत्तर दूसरी योनि में ही मिलता है। प्रथम से नैतिक सुधार होता है और द्वितीय से विश्व की व्यवस्था चालू रहती है। कर्मों की गति अति गहन है। व्यक्तिगत कर्मों से सामाजिक फलाफलों का भी निर्माण होता है। पाप और पुण्य दोनों का पृथक्-पृथक् फल भुगतना होता है। परोपकार और याज्ञिक कर्म देव योनि व स्वर्ग की स्थिति उत्पन्न करते हैं। कर्मों का फल कालक्रमानुसार न होकर उनकी गुणवत्ता से आगे-पीछे भी हो जाता है। अद्वैतवादियों के मतानुसार आत्मा सुख-दुख से परे होने से अनुभूति मन व बुद्धि में होती

है। यह मान्यता तो कर्मफल के सारे सिद्धान्त को ही झुठला देती है। पश्चिम के स्प्रीचुअल चर्च ने कर्मफल का जन्म-जन्मान्तर में होना तो माना है पर यह और जोड़ दिया है कि इसमें परमात्मा का मूल उद्देश्य आत्मा को आध्यात्मिक पाथेय की ओर ले जाना मात्र है। परमात्मा दुख का विनियोजन नहीं करता। और इसमें केवल ईश्वरेच्छा ही नहीं बल्कि जीव की भी अपनी इच्छा का सम्मिश्रण होना अनिवार्य है कि वह अगला जन्म लेने में इन उद्देश्यों की पूर्ति देखता है या नहीं। वह नेपथ्य में सोचता है तथा अपने सम्बन्धियों और शुभेच्छुकों से इस विषय में परामर्श करके ही निर्णय करता है। इस सिद्धान्त का कोई दार्शनिक आधार वे नहीं बताते। अपने द्वारा आहूत मृतात्माओं के द्वारा मीडियम के मुखों से कहलवायी प्रश्नोत्तर वार्ता ही इसका आधार है। हाँ प्रसिद्ध चिन्तक जार्जमीक ने अपनी पुस्तक **"आफ्टर वी डाई व्हाट दैन"** में जो कर्मचक्र का ऐलीवेचर द्वारा मानचक्र दिखाया है उसमें कर्मानुसार ऊपर उठने तथा नीचे गिरने दोनों की विवेचना की है।[33]

विकासवाद ने पशुओं के विकास से मनुष्य बनना मान लिया है पर हमारे यहाँ मानव से पशु योनि में जाना और वहाँ से कर्मोन्नति से वापिस आना बहुत पहले ही मान लिया गया था।

अनेक लोक-लोकान्तर हैं, जिसमें जीव का किसी न किसी प्रकार से सेन्द्रिय या निरीन्द्रिय तथा सूक्ष्म या कारण शरीर के साथ वास होता है और उनकी संज्ञा स्वर्ग है, तथा उसमें से कुछ स्थितियों को कुछ दार्शनिकों के अनुसार मोक्ष भी कहा गया है।[34] इसमें मतभेद रहा है कि ये स्थितियाँ हैं या भौगोलिक स्थान।

विश्व के विस्तार हेतु, वैदिक वाङ्मय की 7 व्याहृतियाँ प्रसिद्ध हैं। योगदर्शन के व्यास भाष्य[35] में इन 7 लोकों का विस्तार भी बताया है। वेद के प्रसिद्ध पुरुषसूक्त में भी तीन चौथाई विश्व इस दृष्ट[36] सृष्टि के नेपथ्य में बताया गया है। भाग्य से वैज्ञानिकों ने अनेक लोकों, ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रों आदि का विस्तार टेलस्कोप के आधार से तथा गणित के फार्मूलों से निकालकर रख दिया है। उस साहित्य में पृथ्वी के अतिरिक्त सूर्य, आकाश-गंगा, राशियों, चन्द्रमा, शुक्र, मंगल-बुध, बृहस्पति, शनि, यूरेनस तथा नैपचून का वृत्तान्त प्राप्त होता है। चन्द्रमा पर मानव के पहुँच जाने से चन्द्रलोक का वृत्तान्त तो अब प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में है।

और इन सब स्थानों पर जीवन की सम्भावना की खोज धीरे-धीरे प्रगति कर रही है। थियोसोफिस्ट लोग तो स्पष्ट ही केवल वायु पर, केवल जल पर और केवल अग्नि पर पलने वाले जीवों की कल्पना करते हैं। उड़नतश्तरियों को अन्य देशों से आये वायुयान माना जाने लगा है।

स्थानवाचक गवेषणा के बाद कुछेक विचारकों ने स्थितिवाचक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। दिल्ली में स्थित एक आध्यात्मिक केन्द्र (नं. 9, ए.बी.,-सफदरजंग, दिल्ली) ने मृत्यु समय के व्यक्तियों के शरीर पर परीक्षण करके सुस्थिर किया है कि जीव मरने पर

अर्थात् शरीर से निकलने पर तीन प्रकार के शरीरों में रहता है[37]–

1. Etheral आकाश तत्त्व से भी सूक्ष्म एक मीडियम जिसमें होकर प्रकाश यात्रा करता है। यह शव से तीन फीट तक मँडराता रहता है।
2. Esteral यह तारों से सम्बन्धित क्षेत्र है। शायद यह आकाश गंगा का छोटा रूप है। इसकी दूरी 9 फीट तक हो सकती है।
3. मानसिक शरीर यह स्थानपरक न होकर स्थितिपरक है। इसके बाद पुनर्जन्म होता है।

अमेरिका की Meta Science Foundation के तत्त्वावधान में फ्रैंकलिन वाथ कारोनिया नगर में कुछ परीक्षण जार्जमीक ने किये हैं जिनमें चेतना के अन्य स्तरों पर स्थित आत्माओं से सम्पर्क करने का प्रयत्न किया गया है। उसने स्पिरोकाम नामक यन्त्र का निर्माण भी किया हैं। यन्त्र में विभिन्न Frequencies पर प्राप्त शब्द संकेत इकट्ठे किये गये हैं और उनका विश्लेषण किया जा रहा है। ऐसी जानकारी प्राप्त हुई है।

वैज्ञानिकों ने एक और थियोरी प्रकाशित की है कि जितने इनआरगेनिक पदार्थ हैं, वे तारा-मण्डलों के क्षेत्र में घर्षणादि से बनते हैं और वर्षा तथा उल्कापात से आकर पृथ्वी पर गिरते रहते हैं। मैण्डलीफ के वेलेन्सी चार्ट में क्रमबद्ध दिखाया गया है और आज रसायन विज्ञान की सर्वसम्मत मान्यता है कि पोजीट्रोन अर्थात् बिजली के भार युक्त धन विद्युत् के चारों ओर ऋण विद्युत् इलैक्ट्रान की भिन्न-भिन्न संख्या द्रुतगति से घूमने से ही विभिन्न तत्त्वों के अणु बनते हैं। अब एक धन विद्युत् के चारों ओर एक इलैक्ट्रान घूमता है तो हाईड्रोजन, दो से आक्सीजन, तीन से लोहा बनता है। यह विद्युत् गर्जन की प्रक्रिया आकाश में ही विभिन्न अनुपातों में सम्भव है। अत: उपभोग के ये पदार्थ आकाशस्थ लोकों में भी सम्भव हैं। पं. शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ ने अपने किये वेदभाष्य में 70 प्रतिशत ऋचाओं को आकाशीय तारामण्डलों में परिव्याप्त प्रक्रिया का वर्णनकर्ता मात्र बताया है।

बाहरी अन्तरक्षि में जीवन की खोज पर अमेरिका में एक संस्था और कार्यरत है, उसका नाम Society for extra territorial intellegence (Ste-I) है। ग्रहों में मानव जीवन से सम्बन्धित एडवर्ड आशापाल के विचार भी प्राप्त होते हैं।

आत्मा अपने इस शरीर को छोड़कर अन्यत्र विचरण करने हेतु चली जावे। इस सन्दर्भ में शंकराचार्य के जीवन का एक प्रकरण इस देश में बहुत प्रचलित है कि यौवनीय काम का प्रभाव अनुभव करने हेतु वे यह शरीर छोड़कर किसी परकीय काया में प्रवेश किये थे। सम्भवत: आत्मा का एक अंश ही इस भाँति जाता होगा अन्यथा प्रथम शरीर तो शववत् हो जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में डॉ. रेमण्डमूडी ने अपनी पुस्तक 'लाइफ आफ्टर डैथ' में एक परीक्षण की रिपोर्ट दी थी जो एक व्यक्ति पर किया गया था। इसमें एक व्यक्ति जो मरणासन्न था, उससे इण्टरव्यू लिया गया था। फिर वह मृत घोषित कर दिया गया और विधि के विधान से वह फिर जीवित पाया गया। उससे उस अन्तराल के दृष्ट विवरण पूछे गये। उसने द्रुतगति

से ऊपर उठना, फिर आकाश में तैरना, फिर आनन्दानुभूति के अनुभव बताये।

सोते में मनुष्य का उठ खड़ा-होना, घूम फिर आना, फिर आकर सो जाना और निद्रा भंग होने पर उठकर इस बीच हुई सब बातों से अनभिज्ञता प्रकट करना, इस प्रकार के Out of body experience (O.B.E.) अनुभवों का प्रथम सोपान लगती है। आगे आने वाली घटनाओं का पूर्वाभास दूसरी सोपान लगती है।

इस ओ.बी.ई. के विषय पर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग के डायरेक्टर सोसिल ने भी प्रयोग किये हैं। उन्होंने ऐसे कई व्यक्तियों की यात्राओं का विवरण दिया है। पर कैलीफोरनिया विश्वविद्यालय के पैरासाइकोलोजी विभाग के डाक्टर इयाल स्टीवैंशन ने भारत आकर एक प्रकरण पर पूरी खोज की थी। इससे गिरधारी लाल जाट की आत्मा का शंकरलाल त्यागी के पुत्र सोमनारायण की काया (या आत्मा) में अस्थायी रूप से प्रवेश हो जाना सिद्ध हो गया था। इन सब प्रकरणों से आत्मा का दूसरे लोकों में विचरण स्पष्टतः सिद्ध है।

दक्षिणी पश्चिमी फ्रांस के ओरजेनिल नगर में 1864 में गिरे भारी ठोस द्रव्य का विश्लेषण (एनालिसिस) किया गया। और फिर 1938 में तन्जानिया देश में गिरे विशाल मीटराइड्स (उल्कापात) पर कई वैज्ञानिकों ने अमेरिका में खोजबीन की। इनमें जार्ज क्लाज, वार्टनागी, हान्सडीटर तथा प्लग मुख्य थे। इन सभी विश्लेषणों में यह पाया गया कि इनमें जीवनोपयोगी पदार्थ विद्यमान हैं। यहाँ तक कि उनमें हाईड्राकार्बनजन्य आरगेनिक पदार्थ भी मिले। इससे भी स्पष्ट है कि जहाँ से यह उल्का कण आये वहाँ जीवन अवश्य होगा।

मुक्ति युग-युगान्तर से मानव मात्र का अन्तिम पाथेय रहा है। जीवन के जन्म-मरण से छुटकारे के सन्दर्भ में जीव की अक्षय अमरता के सिद्धान्त का अपक्षय ही होता है। मोक्ष जीव की स्थिति है या कोई स्थान है, जहाँ वह जाकर निवास करता है। और वह सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर रहित स्थिति सदा सर्वदा के लिए है या अस्थायी है। कठोपनिषद् ने स्वर्ग और मोक्ष को पृथक् बताया है, जिनका ज्ञान क्रमशः दूसरे और तीसरे वरदान में माँगा गया था।

वेदों में तो संज्ञा रूप में मोक्ष शब्द आया नहीं है। क्रिया के रूप में 'मुक्षीय' शब्द अवश्य आया है।[38] बन्धन वेदों में तीन प्रकार के तथा न्याय दर्शन[39] में चार प्रकार के बताये हैं। बन्धन-मुक्त का जो धाम है वह निरन्तर प्रकाशशील व सुख-सम्पन्न है।[40] वहाँ तृप्ति है, आनन्द है तथा सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं; तथा यदृच्छा पदार्थ अन्य तृप्ति हस्तामलकवत् उपलब्ध हैं।[4] कुरान व बाइबिल में बहिश्त का आकर्षक वर्णन छान्दोग्य[42] से गया प्रतीत होता है।

और मुक्ति चूंकि अर्जित फल है, अतः वह असीमित नहीं हो सकता है। वहाँ से लौटना अनिवार्य है।[43] अन्यथा वह वन-वे-ट्रैफिक कब तक चलेगा? किसी दिन यह विस्तृत लोक-लोकान्तर जीव-विहीन और मोक्ष में जनसंख्या का बाहुल्य न हो जाए। अतः वैदिक शास्त्रों ने इस मुक्ति का समय ब्रह्मा के वर्ष अर्थात् 432 000 000 000 चन्द्रवर्ष नियत किया

है। इसके बाद अपनी इच्छानुसार मुक्त जीव जन्म लेता है। इस प्रकार जीव की सतत अमरता और कर्मानुसार पुनर्जन्म सिद्ध होता है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इतना युक्तियुक्त है कि संसार का कोई भी मनीषी-दार्शनिक, कवि, वैज्ञानिक-इसे स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। वैदिक धर्म और उसकी शाखा-प्रशाखा के प्रमाण ग्रन्थों में सर्वत्र पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। अथर्ववेद के प्राण सूक्त में उल्लेख मिलता है कि—मनुष्य गर्भ के अन्दर सांस लेता है और छौड़ता है। हे प्राण! जब तू उस गर्भस्थ बालक को परिपुष्ट कर देता है तो वह फिर उत्पन्न होता है।[44] यजुर्वेद का ऋषि कहता है—मुझे मन फिर से प्राप्त हुआ है, प्राण भी फिर से मिला है, मेरा देहयुक्त आत्मा भी फिर से मिला है, मुझे आंख और कान फिर से मिले हैं। अत एव मेरा जीवन मुझे फिर से मिला है।[45] अथर्ववेद के आत्मा देवता वाले एक सूक्त में आता है—मुझे इन्द्रियों का सामर्थ्य अर्थात् मनुष्य देह बार-बार प्राप्त हो। मन, जीव और देह तथा धन व ब्रह्मज्ञान भी बार-बार प्राप्त हो। अग्निहोत्रादि में समर्थ हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि, उत्तम शरीर और इन्द्रियों के स्वामी थे वैसे ही इस जन्म में भी हों।[46] आचार्य यास्क ने भी जीवात्मा की अनन्त यात्रा को पुनर्जन्म के माध्यम से समझाते हुए लिखा है कि—मैं (जीवात्मा) मर कर पैदा हुआ, पैदा होकर फिर मरा, अनेक योनियों में मैंने जन्म लिया। अनेक प्रकार के मैंने भोजन किये, अनेक स्तनों से मैंने दूध पिया। अनेक प्रकार के माता-पिता और मित्रों को देखा। गर्भ में नीचे सिर और ऊपर पैर इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं को सहन करके अनेक जन्मों को धारण किया।[47] गीता में कहा गया है—जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये धारण कर लेता है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीर को धारण कर लेता है।[48] जैसे शरीर धारण करने पर जीवात्मा को इस देह में बचपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त होता है वैसे ही मरने पर दूसरा शरीर प्राप्त हो जाता है।[49] मैक्समूलर ने भी मरणोपरान्त आत्मा के सूक्ष्म शरीर के साथ एक नाड़ी के रास्ते हृदय से निकल जाने और अपने कर्मों के अनुसार अगला जन्म धारण करने की बात कही है।[50] दार्शनिक क्षेत्र में पाश्चात्य देशों में यूनान का स्थान सबसे ऊंचा है। विश्व के बड़े-बड़े दार्शनिक वहां हुए हैं और सभी ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। प्लेटो का प्रत्ययवाद भी इस स्थापना का साक्षी है कि 'आत्मा शरीर से पुराना है।' उसके मत में आत्मा इस जन्म में जो भी ज्ञान प्राप्त करता है वस्तुतः वह पूर्वजन्मों के अनुभवों की आवृत्तिमात्र है-'ज्ञान केवल स्मरण है' (To know is to remember)। प्लेटो की ही दो अन्य सूक्तियां हैं—

'आत्मा अपना चोला सदा बदलता रहता है' (The soul always weaves her garment anew)।

'आत्मा में बार-बार जन्म लेने की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान है' (The soul has a natural strength which will hold out and be born many times)।

पिथेगोरस ने लिखा–'अविनाशी आत्मा मृत्यु के अनन्तर मनुष्य या पशु योनि में जन्म लेता है' (All things are but altered. Nothing dies and here and there the unbodied spirit fiies, by time and force or sickness dispossessed and lodges where it lights in man or beast)।

प्लेटो के सुयोग्य किन्तु प्रतिद्वन्द्वी शिष्य अरस्तू (Aristotal) की मान्यता है कि आत्मा नित्य और भौतिक शरीर से भिन्न (Something divine and immortal) है। वह समस्त जगत् का छायाचित्र (Microcosm) है जो पशु, कीट, वनस्पति, मनुष्य आदि योनियों में से गुज़र कर उस-उस योनि का अनुभव एकत्र करता जाता है।

एम्पीडोक्लीज़ ने पुनर्जन्म का आधार सांख्य दर्शन (नावस्तुनो सिद्धिः-1-43) तथा गीता (नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः) के अनुसार आत्मा के नित्यत्व को ही माना। पुनर्जन्म में विश्वास के कारण ही वह मांस भोजन से भी घृणा करता था–"There sprang up in Empedoclese from the belief in transmigration of souls a dislike to flesh as food." (Calcutta Review, Vol. LXii, p.97)

पुनर्जन्म के सन्दर्भ में प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम का कहना है–"Metempsychosis is the only theory to which philosophy can hearken, since what is incorruptible is ungenerable" अर्थात् दर्शनशास्त्र को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानना पड़ेगा, क्योंकि जो अनन्त (अविनाशी) है वह अनादि (अनुत्पन्न) है।

फ्रांस के लैसिंग ने तर्क दिया कि "मनुष्य का स्वभावतः पापी होना (जैसा कि बाइबल मानती है) तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि पुनर्जन्म को माना जाये। अन्यथा पाप कहां से आया? यदि कहो कि ईश्वर ने मनुष्य के साथ लगा दिया तो ईश्वर भी पापी ठहरता है।" काण्ट ने अपने समस्त दर्शनशास्त्र की नींव आचार शास्त्र के ऊपर रक्खी। वह कहता है-"धर्म का सम्बन्ध सुख के साथ है और अधर्म का दुःख के साथ। किन्तु हम देखते हैं कि इस जगत् में दुर्जन पुरुष फलते फूलते तथा सज्जन दुःख पाते हैं। यदि कोई न्यायकारी ईश्वर जगत् का अधिष्ठाता है तो वह अवश्य ही भविष्य में दुष्टों को दुःख का भोग और सज्जनों को सुख का भोग अवश्य करायेगा।"

स्पीनोज़ा, हेगल आदि ने भी आत्मा की नित्यता तथा पुनर्जन्म को स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया है।

आधुनिक काल के महान् दार्शनिक आइकन (Eucken) का कहना है कि जीवन की सबसे पुष्ट व्याख्या वह है जो मनुष्य को प्राकृतिक जगत् से उठाकर परमात्मा की ओर ले जाये और यह भी बताये कि उन्नति का क्षेत्र केवल इसी जन्म तक सीमित नहीं है अपितु भविष्य के जन्मों तक फैला है। काण्ट के स्वर में स्वर मिलाते हुए आइकन ने भी कहा– "If this does not happen in the present life, then it must happen in a future life. The more detailed elaboration of this conception has struck different paths. One such path was the doctrine of transmigration of

soul."[51]

ईसाई लोग (मुसलमान भी) आत्मा की उत्पत्ति तो मानते हैं किन्तु नाश नहीं मानते। ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज में दर्शन शास्त्र के आचार्य प्रोफेसर मैकटेगर्ट ने अपनी पुस्तक (Human immortality and pre-existence) 'आत्मा की अमरता और पूर्वसत्ता' में इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा–"यदि आत्मा बनाया गया तो प्रश्न होता है कि किस लिए बनाया गया। यदि प्रत्येक आत्मा नवीन उत्पन्न किया जाता है तो उसके उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता पड़ गई। संसार तो उसकी उत्पत्ति से पूर्व भी चल रहा था–"

"If the universe got on without me for a hundred years, what reasons could be given for denying that it might get on without me a hundred years more."

यदि आत्मा को अनन्त मानते हो तो अनादि भी मानो। और आत्मा को अनादि और अनन्त मान लेने पर यह भी मानना पड़ेगा कि प्रारम्भ से ही अनेकों आत्मायें हैं-कोई किसी से पैदा नहीं होती। तब, जिस कारण वर्तमान जन्म हुआ उसी कारण से जन्मान्तर भी होंगे।

प्रकृति के महान् कवि वर्ड्सवर्थ ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'बाल्यकाल की स्मृतियों में अमरता का संकेत' (Intimation of immortality from recollections of early childhood) में पुनर्जन्म की इन शब्दों में व्याख्या की है–

Our birth is but a sleep and a forgetting,
The soul that rises with us, our life's star--
Hath had its setting elsewhere,
And cometh from afar.

जिस प्रकार तारे छिपकर फिर निकल आते हैं इसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर बहुत दूर कहीं दूसरा जन्म धारण कर लेता है। अपनी एक और कविता "The primrose of the rock" में पुष्पों तथा अन्य वनस्पतियों की परिवर्तनशील अवस्था को देखकर वह विश्वास प्रकट करता है कि मनुष्य के जीवन में भी इसी प्रकार मुरझाने के बाद पुनर्जन्म होता है–

Sin-blighted though we are, we too,
The reasoning soul of man,
From our oblivious winter called,
Shall rise and breathe again.

टेनीसन कहता है–

And when we muse and brook,
And ebb into a former life,

We say, all this hath been before,

Although I know not in what time or place,

Methought that I had often met with you.

हमें ठीक तरह याद भले ही न हो कि पूर्वजन्मों में कब, कहां मिले किन्तु यह निश्चित है कि हम एक दूसरे से अनेक बार मिले हैं।

अमरीका के महान् सन्त, साहित्यकार तथा दार्शनिक इमर्सन अपना अनुभव बताते हैं–'We wake and find ourselves on a stair. There are other stairs below us which we seem to have ascended; there are stairs above us, many a one which go upward and out of sight.'

बहुत सी सीढ़ियां हमसे नीचे हैं जिन्हें हम चढ़ चुके हैं और बहुत सी हम से ऊपर हैं जिन पर हमें अभी चढ़ना है।

वर्तमान युग में इंग्लैण्ड में ऋषि कल्प समझे जाने वाले एडवर्ड कारपेण्टर ने अपने ग्रन्थ 'The Drama of love and hatred--a study of human evolution and transmigration' में लिखा कि 'जो मनुष्य इस पृथिवी पर जन्म धारण करता है वह इस जगत् के लिए कोई सर्वथा नवीन आत्मा नहीं होता।'

आशावाद का एकमात्र आश्रय पुनर्जन्म का सिद्धान्त है–इस तथ्य की कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भावात्मक अभिव्यक्ति करते हुए लिखा–

'The child cries out when from the right breast the mother takes it away, in the very next moment to find in the left one its consolation.'

जब माता बच्चे को एक स्तन से हटाती है तो बच्चा चिल्लाता है किन्तु ज्यों ही अगले क्षण वह उसे दूसरे स्तन से चिपटा लेती है वह शान्त हो जाता है।

डॉ. श्रीगोपाल काबरा के अनुसार–सच तो यह है कि हर जीव फिर से जन्म लेता है। प्रजनन इसी का नाम है। प्रजनन प्रक्रिया अलग–अलग जीवों में अलग हो सकती है, पर प्रयोजन हर जीव में एक ही है और वह है प्रजनन द्वारा स्वयं की पुनरावृत्ति कर अपने को, अपनी जाति को बनाए रखना। प्राणियों में प्रजनन प्रक्रिया, शुक्राणु और स्त्री बीज के मिलने पर दोनों शरीरों की पुनरावृत्ति होती है। माता–पिता के शरीर में स्थित हर एक कोशिका की स्मृति, उसकी पूरी जीवनचर्या के लेखे–जोखे की स्मृति, जो हर कोशिका को अपने माता–पिता से मिली थी, जीनों पर घनीभूत होकर, प्राणी बीजों के गुणसूत्रों के माध्यम से पुनरावृत्ति कर संतान के रूप में पुनर्जन्म लेती है। जन्म, प्राणी–बीजों से ही होता है और बीज प्राणी विशेष के ही होते हैं। हर जीव, हर प्राणी का जन्म बीज से ही होता है। बीज में डी.एन.ए. रसायन होता है, जिसकी स्वतः पुनरावृत्ति और पुनर्नवन की क्षमता से ही जीव उत्पन्न होता है, उसका पुनर्जन्म होता है।

धार्मिक मान्यताओं के अनुसार, प्राणी जन्म लाखों योनियां पार करने पर ही होता है। अगर आप पुरुष और स्त्री बीजों के मिलन से बनी एक कोशिका से पूरे मानव शरीर के निर्माण की प्रक्रिया को देखें, तो इसकी सत्यता समझ में आएगी। गर्भ से भ्रूण और भ्रूण से शिशु के विकास की प्रक्रिया में हर जीव योनि की पुनरावृत्ति होती है और इन योनियों को पार करके ही वह मानव शरीर को पहुंचता है। यह यात्रा सब के लिए निश्चित है।

भ्रूण पहले एक कोशिका का जीव होता है, ठीक वैसे ही जैसे बैक्टीरिया, अमीवा आदि एककोशिकीय जीवों की योनि। उसके पश्चात्, भ्रूण द्विस्तरीय, बहुकोशिकीय रूप धारण करता है, ठीक वैसे ही जैसे कुछ कृमि। तत्पश्चात् त्रिस्तरीय रूप में पहुंचता है जैसे कि फीता रूपी कृमि। एक स्थिति में भ्रूण के अंदर मछलियों जैसे गलफड़े होते हैं, तो दूसरी स्थिति में चौपायों की तरह पूंछ। फिर जब विभिन्न अंगों का विकास होने लगता है, तो हर अंग अपने आदि प्राणियों में होने वाले अंग के प्रारूप को दोहराता हुआ मानव अंग का रूप लेता है। जहां तक पूर्व जन्म की स्मृतियों का सवाल है, तो वहां सभी आदिम प्रवृत्तियों में निहित स्मृतियां यथा प्रजनन और स्वसुरक्षा संबंधी स्मृतियां, यथावत् जीनों द्वारा प्राप्त होती हैं और स्वत: ही अभिव्यक्त होती हैं। भाषा, पढ़ना, लिखना, बोलना, सीखना, दक्षता हासिल करना आदि प्रक्रियात्मक स्मृतियां जन्मोपरान्त ही विकसित होती हैं। हां, उसके लिए तांत्रिक संरचना और क्षमता पूर्वजन्म (माता-पिता) से आती हैं। यह क्षमता कुछ लोगों में विलक्षण स्तर तक हो सकती है और वे प्रत्यक्ष अनुभूति की जगह परोक्ष अनुभूति से बहुत कुछ अर्जित कर सकते हैं।[52] अतएव अथर्ववेद में कहा गया है कि—जो प्रथम विद्यमान जीव अपने शरीर धारण के कारणरूप कर्मों को प्राप्त करता है और उन कर्मों से नाना प्रकार के शरीर धारण करता है और देह धारण करने की इच्छा से प्रथम गर्भ में प्रविष्ट होता है और वही बिना उपदेश की हुई वाणी को अपने पूर्वजन्मों के संस्कारों से जानता है।[53]

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. ऋक्. 1.113.16, 1.140.8, 10.16.3
2. वही, 1.24.1, 1.109.7, 1.115.2, 1.154.5, 6.37.4, 6.120.3, 9.113.7 से 11, 10. 14.1-10, 10.16.1, 10.59.6, 10.133.1, 10.135.1 और 7, अथर्व. 4.34 (सम्पूर्ण), 18.4.31
3. ऐ.ब्रा. 3.42, 2.7
4. श.ब्रा. 2.31.3.9, 10.4.3.10, 11.4.3.20, 11.5.6.9, 11.6.3.7
5. ता.ब्रा. 25.10.6
6. बृ.आ.उ. 4.3.3, 4.4.2, 46.2.15-16
7. प्रश्नोपनिषद् 3.7, 10; 4.9
8. छा.उ. 5.10.7; 8.7.3, 6.11.3
9. मु.उ. 3.1.9
10. मा.उ. 3.4.5
11. श्वे.उप. 5.9.10

12. गी. 2.2, 4, 5
13. नि. 14.1,2,6
14. न्या.सू.भा. 1.1.19, 3.2.70
15. वै.द. 6.2.14
16. मी.द. 1.2.17, 3.7.18, 6.2.3, 5
17. इन्साक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (8.706.70)
18. ऋग्वेद संहिता 10.63 (शोधसारावली, स्वा. श्रद्धानन्द अनु.प्र. केन्द्र, गु.कां.वि.वि. हरिद्वार के पृ. 49 पर उद्धृत)
19. शोध सारावली, स्वा. श्रद्धानन्द अनु. प्र. केन्द्र गु.कां.वि.वि. हरिद्वार, पृ. 49
20. पुरुषोऽस्तिभोक्तृभावात्, सांख्यकारिका
21. अथर्व. 10.2.31, 32, 33
22. शोध सारावली, स्वा. श्रद्धानन्द अनु. प्र. केन्द्र गु.कां.वि.वि. हरिद्वार, पृ. 50
23. वही, पृ. 50-51
24. ऋग्वेदसंहिता 9.117.1
25. मनु. 4.148-149
26. यो.द. 2.15
27. सुश्रुत 2.107
28. शोध सारावली, स्वा. श्रद्धानन्द अनु. प्र. केन्द्र गु.कां.वि.वि. हरिद्वार, पृ. 51
29. ऋ. 10.22.8 : अकर्मादस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
30. अष्टा. 6.1.154
31. महा. अनु. पर्व. अ.7
32. To every action there is equal and opposite reaction.
33. शोध सारावली, पृ.52
34. योगदर्शन व्यासभाष्य 3.26 : विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते।
35. यो.द. सूत्र 3.29 : 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमाद्' पर व्यासभाष्य–"तत्प्रस्तारः सप्तलोकाः.... भूलोकः.....अन्तरिक्षलोकः.....स्वर्गलोकः.....महर्लोकः.....जनलोकः.....तपोलोकः..... सत्यलोकः"
36. ऋग्वेद संहिता 10.90.3-4:
एतावानस्य महिमाऽतोज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि।।
37. शोध सारावली, पृ.53
38. ऋग्वेद संहिता 7.59.12 :
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्**मुक्षीय** मामृतात्।।
39. न्या.द. 4.1.59

40. ऋ. 9.113.7
41. श.ब्रा., का.14
42. छा.उप. 8.12.3
43. परन्तु कुछ विद्वान् उपनिषदों में उल्लिखित–न पुनरावर्त्तन्ते (प्र.उ. 1.10), न आवर्त्तन्ते (छा.उ. 4.15.5), न च पुनरावर्त्तते (छा.उ. 15.1), तेषां न पुनरावृत्तिः (बृ.उ. 6.2.15)– इन वचनों के आधार पर मोक्ष से पुनरावर्तन स्वीकार नहीं करते हैं। इस पक्ष में मोक्ष स्थिति-विशेष है, जो कि 'स्थान' या 'आकाश' से भी सूक्ष्म होने के कारण किसी स्थान विशेष से सम्बद्ध नहीं है। 'Space' जो कि 'स्थन' या 'आकाश' है, वह केवल इन्द्रिय, तन्मात्र व महाभूत जैसे व्यक्त पदार्थों से संबद्ध है। इसके विपरीत मोक्ष पुरुष से सम्बद्ध है जो कि अव्यक्त है। अतः मोक्ष और पुरुष 'Space' के 'Dimension' से बन्धा हुआ नहीं है, अपितु उससे सूक्ष्म–स्थनातीत/आकाशातीत/अवकाशातीत है।
44. अथर्व. 11.4.14 : अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः।।
45. यजु. 4.15 : पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्।
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्।
46. अथर्व. 7.67.1
47. निरुक्तम् (परिशिष्ट द्वि.अ.) अ. 14, खण्ड 6 (प्रकाशक-आर्ष सा.सं., गौतमनगर, नई दिल्ली-49, प्र.सं. 2000 ई.)
48. श्रीमद्भगवद्गीता 2.22
49. वहीं, 2.13
50. आचार्य लक्ष्मीदत्त दीक्षित, अनादितत्त्वदर्शन, वि.वै.सं. गाज़ियाबाद, उ.प्र., पृ. 97
51. Eueken's Essays, P. 106 (आचार्य लक्ष्मीदत्त दीक्षित द्वारा लिखित ग्रन्थ 'अनादि तत्त्व दर्शन' के पृष्ठ 108 पर उद्धृत)
52. अमर उजाला, देहरादून संस्करण, 'रूपायन' में डाक्टर की डायरी, पृ.9
53. अथर्व. 5.1.2 : आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत।।

✦✦✦

मय्येवास्तु मयि श्रुतम्। –अथर्व. 1.1.3
जो कुछ श्रवण करूँ वह मुझे स्मरण रहे।

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि। –अथर्व. 1.1.4
वेदादि शास्त्रों से हम परिचय रखें, शास्त्रों से अपरिचित न हों।

वायुः प्राणान् दधातु मे। –अथर्व. 19.43.2
वायु मुझे प्राण-शक्ति दे।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (34-50) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

वैदिक दार्शनिक परम्परा में वाग्दर्शन (भर्तृहरि दर्शन के सन्दर्भ में)

–विकास शर्मा

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए जिस तरह नेत्र की उपयोगिता है उसी प्रकार अलौकिक तत्वों के रहस्यों को जानने के लिए वेद की उपादेयता है। वेद का वेदत्व इसी में है कि वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय पदार्थों का ज्ञान स्वयं कराता है।[1] वेदों को भारोपीय परिवार का सर्वप्रथम लिखित प्रमाण माना गया है।[2] सायण ने अपने ऋग्भाष्य के मंगलाचरण में वेदों को भगवान् का श्वास कहा है।[3] वेदों का अधिक महत्त्व धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के उद्गम की दृष्टि से है साथ ही भाषाशास्त्र, साहित्य, देवशास्त्र की दृष्टि से वेदों का महत्त्व स्वीकार किया गया है।

वैदिक दार्शनिक परम्परा-

दर्शन शब्द का अर्थ है- जिसके द्वारा देखा जाए- 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्।' क्या देखा जाये? जगत् में विद्यमान समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थों को। यहां पुनः प्रश्न उठता है कि क्या ये पदार्थ नेत्रों से दिखाई नहीं देते जिससे इनके दर्शन के लिए दर्शन शास्त्र की आवश्यकता पड़ी? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ये दिखाई तो देते हैं किन्तु स्थूल नेत्रों द्वारा केवल इनके स्थूल एवं बाह्यरूप का ही दर्शन होता है।

सृष्टि में दृष्टिगोचर समस्त पदार्थों का वास्तविक तात्विक स्वरूप क्या है, इनके गुणधर्म क्या हैं और इनकी उत्पत्ति का कारण तथा उसकी प्रक्रिया क्या है, ये सब बातें स्थूल चक्षुओं से नहीं विचार एवं ज्ञान के चक्षुओं से ही देखी व जानी जा सकती हैं। सम्भवतः इसीलिए संस्कृत के शब्दकोषों में दर्शन शब्द का अर्थ देखने के साथ-साथ 'जानना या समझना' भी किया गया है।[4] हलायुधकोष के अनुसार, जिसके द्वारा यथार्थ तत्त्व का दर्शन किया जाए उसे दर्शन कहते हैं- ''दृश्यते यथार्थ तत्त्वमनेनेति।[5]

जड़ पदार्थों में गति एवं प्रेरणा उत्पन्न करने वाली सत्ता का दर्शन भी आन्तरिक दिव्य चक्षुओं के द्वारा किया जा सकता है। इस भांति संक्षेप में दर्शन वह साधन है जिसके द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, भौतिक, आध्यात्मिक अथवा जड़ चेतन जगत् के सत्यभूत तात्विक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाए।[6]

वेदों में किसी एक विषय को आधार बनाकर वर्णन नहीं किया गया है अपितु विभिन्न दार्शनिक परम्पराएं हमें देखने को मिलती हैं जो इस प्रकार हैं-

* सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बन्धित विचार
* दिव्य शक्ति का चिंतन
* आत्म तत्त्व सम्बन्धित चिंतन
* परलोक, कर्म एवं पुनर्जन्म सम्बन्धित विचार
* मोक्ष विचार
* ऋत एवं सत्य आदि नैतिक मूल्यों पर विचार

वैदिक दार्शनिक परम्परा में वाग्दर्शन-

भाषा दर्शन की गरिमामय परम्परा वस्तुतः वैदिक वाङ्मय से ही प्रारम्भ होती है। चिंतन के दूसरे क्षेत्रों की भांति भाषा संबंधी चिंतन का मूल यहीं दिखाई देता है। वैदिक ग्रन्थों में भाषायी चिंतन विविध सन्दर्भों में और विविध प्रकार से हुआ है। वाग्दर्शन भी भाषा चिंतन परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

अब हमें यह देखना है कि वेद में वाग्दर्शन के जो तत्त्व हमें दिखलाई पड़ते हैं वे किस तरह एक स्वतन्त्र दर्शन का रूप ले लेते हैं। वाग्दर्शन का वर्णन इस प्रकार हैं-

वेदों में वाग्दर्शन-

विश्व में सर्वप्रथम भाषा पर चिंतन ऋग्वेद के ऋषियों द्वारा ही किया गया है। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में यह चिंतन विस्तृत, सूक्ष्म और दार्शनिक होता गया। दर्शनीय है ऋग्वेद संहिता में 'भाषा' शब्द के प्रयोग का अभाव है वहां भाषा के लिए सबसे अधिक वाक् शब्द का प्रयोग किया गया है।[7] 'वाक्' शब्द कथनार्थक घ्वच् धातु से निष्पन्न हुआ है, अर्थात् जो बोली जाती है वह भाषा वाक् है।[8] वाक् शब्द के लिए वाणी, धेनु, गो, अक्षरा, सुनृता इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

भाषा का संस्कार सम्पन्न स्वरूप 'वाक्' कहलाता था क्योंकि मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र ने अपनी वाणी की सिद्धि द्वारा विकृत बोलने वाले और अस्पष्ट बोलने वाले हजारों लोगों का संहार किया था।[9] अतः ऋग्वैदिक ऋषि के अनुसार सुसंस्कृत वाणी 'वाक्', विकृत उच्चारण वाली वाणी 'विवाक्' और अस्पष्ट वाणी 'गृध्रवाक्' है।[10] वैदिक ऋषियों ने सूक्ष्म एवं दार्शनिक रूप से वाक् का वर्णन किया है। उनका कथन है कि अज्ञानी व्यक्ति वाक् तत्त्व को देखता हुआ भी नहीं देखता। सुनता हुआ भी नहीं सुनता। वह प्रतिभा का दर्शन करते हुए भी दर्शन नहीं करता है। उसकी अनुभूति करते हुए साक्षात् अनुभूति नहीं करता है। इसके सर्वथा विपरीत ज्ञानी व्यक्ति प्रतिक्षण प्रतिभा का साक्षात्कार करता है उसकी अनुभूति करता

है। प्रतिभा पतिव्रता स्त्री के तुल्य उस आत्म-तत्त्वज्ञ व्यक्ति को अपना स्वरूप प्रकट करती है।[11]

निरुक्त के अनुसार बोलचाल के लिए प्रयुक्त भाषा को 'भाषा' नाम से पुकारा जाता है।[12] भाषा के स्वरूप विवेचन के लिए प्रायः एक ऋग्वेदीय मंत्र[13] को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है। निरुक्त (13/16) की व्याख्या के अनुसार इसमें यज्ञपुरुषरूप महादेव का चित्रण है, परन्तु भर्तृहरि के वाक्यपदीय (1/132) की व्याख्या के अनुसार इसमें वाक् तत्त्व के स्वरूप को प्रकाशित किया गया है।

वेदकालीन ऋषियों के समक्ष भाषा अवयवों का रूप स्पष्ट हो चुका था तथा उसमें इसके विश्लेषण एवं सूक्ष्म अध्ययन की प्रवृत्ति आ चुकी थी। इस काल की व्यवहृत भाषा में ऋषियों के द्वारा मन्त्रों की रचना के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भाषा को मानक मानकर उसका विश्लेषण भी किया जाता था।[14] ऋक् संहिता में मुख्यतः तीन सूक्त वाक् की महिमा से सीधे सम्बद्ध हैं- 1/164, 10/71, 10/125.

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भाषा विज्ञान के महोपाध्याय प्रो. सईस ने 'साइन्स ऑफ लैंग्वेज' भाग-1, पृष्ठ-1 पर ऋग्वेद के एक सूक्त की ओर भाषा विशेषज्ञों का ध्यान आकृष्ट किया है। सईस का कथन है कि इन मंत्रों में वैदिक ऋषि का वाक् तत्त्व के विषय में जो वक्तव्य है वह बहुत ही गम्भीर, विचार पूर्ण, भाषा विज्ञान की दृष्टि से सत्य तथा बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण है। ऋग्वेद मंडल-10, सूक्त 125 मंत्र एक से आठ जिसका सईस ने उल्लेख किया है, वाक्तत्व का आत्मविवेचन है। इसका ऋषि 'वाक्-आम्भृणी' है और देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'वाक्तत्त्व' है। वाक्तत्त्व ने अपने स्वरूप को उत्तम पुरुष में आत्मविवेचन के रूप में प्रस्तुत किया है।[15] इस सूक्त के अनुसार वाक्तत्त्व समस्त तत्त्वों का धारक है,16 सोमतत्त्व आदि का पोषक है,[17] वाक्तत्त्व ही राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति है,[18] वाक् तत्त्व पर जो विश्वास नहीं करते वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं।[19] वाक्तत्त्व मनुष्य को बह्मतत्त्व व ऋषितत्त्व को प्राप्त करने योग्य बना देता है,[20] वाक्तत्त्व ही सर्वव्यापक है,[21] वाक्तत्त्व से ही विश्व का उद्भव हुआ है,[22] वाक्तत्त्व से ही विश्व सृष्टि की उत्पत्ति एवं विकास हुआ है।[23]

ऋग्वेद के ऋषियों ने ब्रह्मतत्व और वाक्तत्त्व में समानता दर्शायी है उनका कथन है कि जहाँ तक ब्रह्मतत्त्व व्याप्त है, वहाँ तक यह वाक्तत्त्व व्याप्त है।[24] यही वाक्तत्त्व कामधेनु के समान है जो सभी इच्छाओं की पूर्ति करती है।[25] वाक्तत्त्व सहस्र धाराओं में अर्थात् सहस्र भाषाओं और उपभाषाओं में सर्वत्र व्यापक है, प्रचलित है। उसमें मौलिक रूप से पवित्रता है, अतएव उसमें जो असंस्कृत अंश आ जाता है उसको प्रतिभा सम्पन्न कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी विद्वान्, वैयाकरण कवि आदि दूर करके भाषा शास्त्र को संस्कृत एवं पवित्र बनाये रखते हैं।[26] ऋग्वेद में आगे वाक्तत्त्व को हरि अर्थात् विष्णु बताते हुए कहा गया है कि वह सहस्र धाराओं वाला है और उन सहस्र धाराओं से वह सिक्त होता रहता है अर्थात् समृद्ध

किया जाता है। वही वाक्तत्त्व को पवित्र करता है।

सोमतत्त्व की व्याख्या करते हुए ऋग्वैदिक ऋषियों ने कहा है कि वह वाक्तत्त्व को कवियों की बुद्धि से प्रेरित करता है और समृद्ध करता है।[27] वाक्तत्त्व से वाक्तत्त्व के उद्धार के विषय में आंगिरस कृष्ण ऋषि ने इन्द्र देवता के एक मंत्र में कहा है कि हे विद्वज्जनो! वाक्तत्त्व से वाक्तत्त्व को पार करो। अर्थात् वाक्तत्त्व से उस ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करो।[28] यही भाव गीता में कृष्ण ने कहा है कि आत्मशक्ति के आश्रय से अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहिए।[29] ऋग्वेद में प्राजापत्य पंतग ऋषि ने मायाभेद की व्याख्या में कहा है कि पतंग अर्थात् सूये मनस्तत्त्व के द्वारा वाक् को सम्पुष्ट करता है।[30]

वेदों में वाग्दर्शन का स्वरूप

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों में वाक् विषयक सामान्य चेतना पर्याप्त रूप में थी। यही चेतना वाग्दर्शन के रूप में विकसित हो रही थी, इसे निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. वाक् का देवीरूप-

वैदिक ऋषि वाक् को देवी देन के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वाणी देवताओं की सृष्टि है, जिसे स्रष्टा ने सृष्टि में सर्वत्र फैला रखा है।[31] एक वर्णन में कुत्स अंगिरस को कहते हैं कि इन्द्र ने सबसे पहले स्तोता को वाणी प्रदान की।[32] सघ्रि वैरूप के अनुसार वाणी को शरीर में ईश्वर ने स्थापित किया है।[33] नेम भार्गव ऋषि कहते हैं कि देवताओं ने चेतनावान् और इन्द्रिय सम्पन्न सभी प्रकार के दु-पाये, चौपाये, तिर्यक् और सरीसृप पशुओं[34] को वाक् प्रदान किया।[35]

मननशील होने के कारण मनुष्यों ने इसका लाभ सर्वाधिक उठाया।[36] इन वर्णनों से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि भाषा के असामान्य स्वरूप से प्रभावित थे। वे भाषा को सामान्य मानवी शक्ति के रूप में न लेकर असामान्य दैवी शक्ति के रूप में लेते थे। यह विचारधारा ही कालान्तर में भाषा के तात्विक स्वरूप विषयक चिंतन में परिणत हुई। इस प्रकार वाग्दर्शन के विकास की दृष्टि से वाक् को देवी देन के रूप में समझना महत्वपूर्ण है।

वाक् की नित्यता- वैदिक ऋषि भाषा को देवी देन के रूप में तो मानते ही हैं वे वाक् की नित्यता में भी विश्वास करते हैं। आंगिरस ऋषि ने शब्द को स्पष्ट रूप से नित्य कहा है।[37] वाक् की नित्यता को प्रदर्शित करने के लिए वाक् (शब्द) के लिए 'अक्षरा' और 'अघ्न्या' जैसे शब्दों का प्रयोग वेदों में मिलता है।[38]

वाक् का स्वरूप-

विश्वामित्र गाथिन का कथन है कि बुद्धिमान् लोग वाणी को भली भांति मन में छानकर प्रयोग करते हैं।[39] इसका तात्पर्य यह है कि उच्चरित ध्वनि से पूर्व शब्द (वाक्)

की मानसिक सत्ता होती है। वाक् पहले मन में संकल्प के रूप में आती है, फिर शारीरिक प्रयत्नों के द्वारा ध्वनि के रूप में परिणत होकर बाह्य अभिव्यक्त होती है। वामदेव गौतम के अनुसार वाणी हृदय रूपी समुद्र से उद्भूत होती है, वह हृदय में रहती हुई मन से छन कर बाहर आती है।[40] एक वर्णन के अनुसार वाक् हृदय (गर्भ) में स्थित है। शब्द उसका बछड़ा है जो मुख में स्थित होता है। गर्भस्थ वाक् का कारण मन तथा मुख-स्थ वाक् का कारण जिह्वा बताया गया है।[41]

शशकर्णकाण्व के अनुसार वाक् मति को खोलती है।[42] गौतम राहूगण के अनुसार वाक् का सम्बन्ध मन से है।[43] उसके अनुसार मनन या विचार के बिना वाक् की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती। पतंग प्राजापत्य ऋषि के अनुसार वाक् को पतंग (आत्मा) मन में धारण करता है।[44] मन का संकल्प ही उच्चारण के द्वारा द्योतित होता है और कवि लोग अभिव्यक्ति के द्वारा उसकी रक्षा करते हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में आठ ऋचाएँ ऐसी हैं जिनमें वाक् को ऋषि माना गया है। जो स्वयं अपने स्वरूप का परिचय देता है। इसके अनुसार वाक् तत्त्व ही एकादश रुद्रों, आठ वसुओं, द्वादश आदित्यों तथा विश्वदेवों के साथ विचरण करता है। वह मित्र तथा वरुण दोनों को ही धारण करता है, दोनों कानों के बन्द करने पर आन्तरिक ध्वनिरूप शब्दों की धारा चलती रहती है जिस पर शरीर की गतिविधि निर्भर रहती है। इसके समाप्त होते ही शरीर की समाप्ति हो जाती है।[45]

यजुर्वेद में वाक्तत्त्व के विभिन्न गुणों पर प्रकाश डाला गया है। यजुर्वेद का कथन है कि वाक्तत्त्व समुद्र है अर्थात् समुद्रवत् अक्षय भंडार, अगाध, और दुर्बोध है। वह सर्वव्यापक है अनादि और अक्षर है।[46] वाक्तत्त्व चेतनतत्व है, यज्ञिय है, अविनाशी और दोनों सिर वाला है अर्थात् स्फोट और ध्वनि से युक्त है।[47] वाक्तत्त्व विश्वकर्मा ऋषि है।[48]

वाक् की पररूपता -

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि उच्चरित ध्वनि से पूर्व सूक्ष्म (शब्द) वाक् की सत्ता में विश्वास करते थे। अनेक ऐसे वर्णन भी मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषि वाक् की पररूपता में भी विश्वास करते थे। ऋग्वेद के एक सूक्त में बृहस्पति को वाक् का रक्षक बताया गया है। देवराज इन्द्र की सारी गायें पाणि नामक राक्षस हांक ले गया था। इन्द्र ने बृहस्पति से गायों को खोजने का अनुरोध किया। बृहस्पति ने गायों को खोजकर राक्षस से मुक्त कराया। राक्षस द्वारा जहां गायें रखी गई थीं उस स्थान को अज्ञान की गुफा (गुहा तिष्ठन्तीर् अनृतस्य सेतौ) कहा गया है। इसे प्रतीकात्मक प्रयोग कहा जाता है। इसके अनुसार गायें वाणी (वाक्) हैं, जिसे लोग सम्प्रेषण में प्रयोग करते हैं। तब वे अज्ञान में रहती है जब तक हमारी आत्मा उनकी खोज नहीं करती। जब वाक् के गुणों का बोध हो जाता है तो समस्त विश्व वाणी से भर जाता है। लोगों के मन में व्याप्त अज्ञान दूर हो जाता है, अनुभव जगत् इसके रहस्यों को खोलता है।[49] दीर्घतमस् का कथन है कि वाक् समस्त पदार्थों को जानती है। उसके द्वारा जगत् की समस्त वस्तुओं का वर्णन हो सकता है

किन्तु वाणी की इयत्ता को कोई नहीं जानता।[50]

एक वैदिक ऋषि बृहस्पति की प्रार्थना में कहता है कि लोगों के मन में उच्चारण से पूर्व ही वस्तुओं के नाम रहते हैं। उच्चतम एवं शुद्धवाणी अज्ञान की गुफा में छिपी है, जिसे श्रेष्ठ द्वारा ही जाना जा सकता है।[51] सघ्रि ऋषि का कथन है कि वाणी का विषय उतना ही व्यापक है, जितना व्यापक ब्रह्मतत्त्व का है।[52] वामदेव गौतम के अनुसार मनुष्यों को वाणी ईश्वर से शक्ति के रूप में प्राप्त हुई है जिसका मनुष्य परिष्कार करते हैं।[53] देव तथा मनुष्य सभी लोग वाक् की उपासना करते हैं, जिस पर वाक् का अनुग्रह हो जाता है, वह तेजस्वी बन जाता है।[54] वाक्तत्त्व रुद्र को शक्ति सम्पन्न बनाता है। आकाश तथा पृथ्वी सर्वत्र वह व्याप्त रहता है। सम्पूर्ण मानव समाज को वाक् आनन्दित भी करता है।[55] ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है कि वाक् द्युलोक एवं पृथ्वी से परे है वह निर्विकार निर्लेप निरन्जन एवं एक रूप है।[56]

अथर्ववेद के अनुसार वाक्तत्त्व ऋत में स्थित, सत्य के द्वारा आवृत्त तथा श्री से ढँका हुआ है। यश से घिरा हुआ स्वधीरूप परिधान से अलंकृत, श्रद्धा से ढ़ोया हुआ तथा दीक्षा से सुरक्षित है।[57] इस कथन से भी वाक्तत्त्व की सूक्ष्मरूपता में भी पररूपता निरूपित है।

वाक् अभिव्यक्ति के स्तर -

वाक् अभिव्यक्ति के स्तर के विषय में वैदिक ऋषियों का संकेत परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की ओर है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में एक ऋक् उद्धृत की है, जिसके अनुसार वाणी के चार स्तर परा आदि पाये जाते हैं। वाणी के चार स्तर है जिनका ज्ञान केवल विद्वान् ब्राह्मणों को है। सामान्य जन भाषा के तीन स्तरों को नहीं जानते। वे केवल चतुर्थ वाणी ही बोलते हैं।[58] अथर्ववेद के एक वर्णन में वाक्तत्त्व को तीन पाद वाला कहा गया है। वहां वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती वाक् के तीन पाद हैं।[59]

वाक् अभिव्यक्ति की प्रक्रिया-

वेदों में वाक् की बाह्य अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के विषय में पर्याप्त विचार किया गया है। वैदिक ऋषि यह तो मानते हैं कि ध्वनि रूप में उच्चरित होने से पूर्व वाक् मन में रहता है यह ध्वनि रूप में किस प्रकार परिणत होता है इस विषय में भी यत्र तत्र विचार प्रकट किया गया है। देवापि आर्ष्टिषेण ने वाक् का अधिष्ठान ''आस्य'' बताया है।[60] इसकी व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने कहा है कि वक्ता 'आस्य' से वर्णों का प्रक्षेपण करता है। इसलिए यह आस्थ कहा जाता है।[61] पतञ्जलि के अनुसार उच्चारण में विशेष उपयोगी होने से मुख गहवर की ही नाम आस्य पड़ा। ऋग्वेद संहिता में 'आस्य' का प्रयोग अनेक बार हुआ है। इनमें से छः बार इसका प्रयोग बोलने के अर्थ में हुआ है।[62] एक वर्णन के अनुसार वाक् हृदय गर्भ में स्थित रहता है। शब्द उसका बछड़ा है जो मुख में स्थित रहता है। गर्भस्थ वाक् का कारण मन है तथा मुखस्थ वाक् का कारण जिह्वा है।[63]

इससे स्पष्ट है कि वाक् पहले मन में आती है तथा बाद में शब्द के रूप में जिह्वा द्वारा बाहर अभिव्यक्त हो जाती है। अगस्त मैत्रावरुणि के अनुसार वाक् बाह्य अभिव्यक्ति के बाद द्यावा-पृथिवी के मध्य आकाश में फैल जाती है।[64]

वाक् से जगत् की उत्पत्ति-

वाक् से जगत् की उत्पत्ति के विषय में व्याख्या कहीं-कहीं ही की गई है। एक वर्णन के अनुसार वाक् ही समुद्र के अन्तर्गत निवास करता है। वही समस्त जगत् की उत्पत्ति करता है। वह द्युलोक को अपने शरीर से स्पर्श करता है। इस का अर्थ यह हुआ कि समस्त जगत् की सृष्टि करता हुआ वाक् तत्त्व उसी में ओतप्रोत है।[65]

वाक्तत्त्व ही गतिशील है, समस्त विश्व का जनक है। वह द्युलोक एवं पृथ्वी से परे है।[66] अथर्ववेद में वाक्तत्त्व की विद्युत् के रूप में द्युलोक एवं पृथ्वी में शक्ति का संचार करता है। उसी से समस्त प्राणियों में जीवन शक्ति की प्राप्ति होती है। उसी से बल एवं अन्न का पोषण होता है।[67] अथर्ववेद में वाक्तत्त्व को परमेष्ठी प्रजापति के स्वरूप में प्रतिष्ठित किया गया है। उसी से शान्त अथवा घोर समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है।[68] प्रजापतिरूप में इस तत्त्व की सर्वत्र व्यापकता है। यह वाक्तत्त्व विश्वरूप, शर्वरूप तथा गोरूप है।[69] ऋग्वेद में कहा गया है कि जहां तक ब्रह्म प्रतिष्ठित है वहां तक वाक् भी प्रतिष्ठित है। इस कथन से भी वाक्तत्त्व की जगत् में व्यापकता प्रतिष्ठित होती है।[70]

वेदों के अनन्तर वाग्दर्शन की सूक्ष्म परम्परा ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, प्रातिशाख्यों, स्मृतियों, पुराणों, महाकाव्यों एवं आधुनिक भाषा दर्शन में दिखलाई पड़ती है। जो संक्षिप्त रूप में इस प्रकार से है-

ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक् वर्णन-

ऐतरेय ब्राह्मण

ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ में वाग्देवी को सरस्वती कहा गया है।[71] वाक्तत्त्व को अक्षय समुद्र कहा गया है जिसका कभी क्षय नहीं होता।[72] तथा वाक् और मन अविनाभाव से साथ रहते हैं।[73] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वाक्तत्त्व ब्रह्म ही नहीं सुब्रह्म अर्थात् सुन्दर ब्रह्म है।[74]

कौषीतकि ब्राह्मण-

कौषीतकि ब्राह्मण में भी वाक् को सरस्वती देवी कहा गया है।[75]

ताण्ड्य ब्राह्मण-

ताण्ड्य ब्राह्मण में वाक् को कामधेनु कहा गया है।[76] तथा वाक्तत्त्व को समुद्र बताते हुए मन को उस समुद्र का नेत्र कहा गया है।[77]

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार-

शतपथ ब्राह्मण में वाक्तत्त्व को सुपर्णी अर्थात् ब्रह्म की माया शक्ति बताया गया है। इस वर्णन के अनुसार वाग्देवी माया रूप से संसार को अपने जाल में बांधे हुई है।[78] इस वाक्तत्त्व को सर्वदोष नाशिका शक्ति कहा गया है।[79] शतपथ ब्राह्मण में ही अन्यत्र वाग्देवी को गतिवत् रूप बताते हुए मनन शक्ति का आश्रय कहा गया है। इसके अनुसार सारा संसार वाग्देवी के द्वारा ही मनन करता है।[80] वाग्देवी को कामधेनु के समान बताकर उसकी उपासना पर बल दिया गया है इसके अनुसार प्राण उसका ऋषभ एवं मन उसका वत्स है।[81] तथा समस्त ब्रह्माण्ड वाक्तत्त्व का ही विराट् रूप है।[82] यही वाक्तत्त्व अग्नि स्वरूप है।[83] यह वाक्तत्त्व मन से अधिक सूक्ष्म और तीव्र है।[84] शतपथ ब्राह्मण में ऋग्वेद तथा सामवेद को वाक्तत्त्व का परिणाम बताया गया है। तथा यजुर्वेद को मन का परिणाम बताया गया है।[85] वाक् की सूक्ष्मता को दर्शाते हुए प्राण तत्त्व और वाक् तत्त्व का अविनाभाव सम्बन्ध बताया है।[86] वाक् की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि वह वाक् ही ब्रह्म है।[87]

उपनिषदों में वाक् का स्वरूप-

वेदों के समान उपनिषद् भी भारतीय दार्शनिक परम्परा के मूलभूत आधार स्तम्भ हैं। वेदों में जो बातें बीज रूप में कही गई मिलती हैं, वे उपनिषद् साहित्य में सविस्तार वर्णित पाई जाती हैं। भारतीय भाषा दर्शन का अस्पष्ट रूप वेदों में पाया जाता है, वह अपने विकसित रूप में उपनिषदों में मिलता है। औपनिषद भाषा दर्शन के स्वरूप के विषय में दो बातें विशेषता के तौर पर मुख्य रूप से कही जा सकती हैं। एक भाषा विश्लेषण का दार्शनिकीकरण दूसरे शब्द (वाक्) तत्व का परमतत्व ब्रह्म के साथ तादात्मयीकरण।[88]

उपनिषदों में भाषा के तात्विक स्वरूप पर विचार किया गया है। ऋषियों ने भाषा की क्षमता पर सूक्ष्म विचार किया, उन्होंने बताया कि हमारी भाषा की एक सीमा है। यह परमसत्य परब्रह्म तक नहीं पहुंच सकती।[89]

तेजोबिन्दूपनिषद् में कहा गया है कि परमतत्त्व को वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता। वह वाणी का विषय नहीं है। वह मन से नहीं जाना जा सकता परमतत्त्व योगियों को निर्विकल्पक समाधि में प्राप्त होता है वहीं पुनः यही कहा गया है कि उसे मन एवं वाणी से भी व्यक्त किया जा सकता है।[90]

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि वाक्तत्त्व ही सम्राट् परब्रह्म है। समस्त संसार इसकी ओर चल रहा है, यह संसार को नहीं त्यागता।[91]

ब्रह्मबिन्दूपनिषद् में शब्दब्रह्म तथा अक्षरब्रह्म दो प्रकार के ब्रह्म का भेद निरूपण किया गया है।[92] शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म इन दोनों को दो विद्याओं के रूप में समझना चाहिए। शब्दब्रह्म में निष्णात हो जाने पर परब्रह्म की प्राप्ति निश्चित है।[93]

वाक्तत्त्व की ब्रह्मरूपता को उपनिषदों में प्रणव (ओंकार) के रूप में भी व्यक्त किया गया है। यह ओम् शब्द ही परमतत्व रूप अक्षर ब्रह्म है। इसी तत्त्व को जान लेने पर जो जिसकी इच्छा करता है वह उसका हो जाता है। अर्थात् जिसको जानने की इच्छा करता है, उन सभी को जान लेता है।[94] छान्दोग्य उपनिषद् में वाक् तत्त्व को पुरुष का सारभाग, ऋग्वेद को वाक् तत्त्व का सार, सामवेद को ऋग्वेद का सार तथा यजुर्वेद को सामवेद का सार तथा सामवेद के सार भाग उद्गीध को ओम् (प्रणव) शब्द से अभिहित किया गया है। कहा गया है कि यह अक्षर तत्त्व है, उपासनीय है तथा साक्षात्कार के योग्य है।[95]

नारायणोपनिषद् में ॐ को एक अक्षर, नमः को दो अक्षर, नारायणाय को पांच अक्षर कहा गया है।[96]

नृसिंहतापनीयोपनिषद् में कहा गया है कि ओंकार अक्षर (अविनाशी) त्रिकालातीत, आत्मा एवं पर ब्रह्मरूप है। वह भूत, भविष्यत्, वर्तमान तथा सबकुछ है।[97]

उपनिषदों के पश्चात् स्मृतियों, पुराणों तथा महाकाव्यों में वाग्दर्शन का यत्र तत्र वर्णन उपलब्ध है। यद्यपि महाकाव्यों का प्रतिपादन विषय भाषा दर्शन नहीं है फिर भी प्रसंगवश भाषा दर्शन के विचार भी वर्णित मिलते हैं। इस संदर्भ में महाभारत एवं श्रीमद्भगवद्गीता ही ऐसे दार्शनिक ग्रन्थ हैं जिनमें भाषा के तात्विक स्वरूप पर विचार किया गया है। क्योंकि महाभारत (गीता) के विषय में ऐसा कहा गया है कि जो कुछ अन्यत्र है वह सब गीता में है, जो गीता में नहीं है वह कहीं नहीं है।

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 231 में कृष्ण द्वैपायन व्यास (विक्रम से 3000 वर्ष पूर्व) ने निम्नलिखित श्लोक कहा है-

अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

अर्थात् आदि और निधन रहित नित्य वाक् स्वयंभू ब्रह्मा प्रजापति ने उत्सृष्ट की, आदि में वेदमयी दिव्यवाक् थी। उस वाक् से संसार की सब प्रवृत्तियां हुई।

इस श्लोक को देखकर सहसा भर्तृहरि के वाक्यपदीय की प्रथम कारिका का स्मरण होता है जहां उन्होंने वाक् के स्थान पर शब्द का प्रयोग किया है।-

अनादि निधन ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[98]

भर्तृहरि के अनुसार वाक् (शब्द) से सृष्टि-निर्माण-

भर्तृहरि का कथन है कि शास्त्रज्ञों का मत है कि यह संसार शब्द का ही परिणाम स्वरूप है। सृष्टि के आदि में संसार में यह विश्व छन्दोमयी वाक् से ही विवर्त को प्राप्त हुआ।[99] इस संसार में जो कुछ चल-अचल विद्यमान है, वह सब वाक् का ही परिणाम है। भर्तृहरि ने स्वोपज्ञ वृत्ति में कहा है कि -

'वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।'[100]

भर्तृहरि कहते हैं कि संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द के बिना हो। समस्त ज्ञान शब्द के साथ संसृष्ट-सा प्रतीत होता है।[101]

भर्तृहरि का मानना है कि यह वाक् ही समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करती है। ज्ञान में प्रकाशशीलता अर्थात् बोधकशक्ति तभी तक है, जब तक कि उसमें वाक्शक्ति विद्यमान है। यदि ज्ञान में नित्यरूप से रहने वाली वाक् शक्ति निकल जाये तो ज्ञान किसी भी वस्तु का बोध नहीं करा सकता उस अवस्था में ज्ञान की स्थिति ऐसी ही होगी जैसे चैतन्यहीन आत्मा की क्योंकि वाक्शक्ति ही प्रकाशों की भी प्रकाशिका है।[102]

आचार्यदण्डी ने भी शब्द की उस प्रकाशशीलता को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि यदि शब्द रूपी ज्योति इस संसार में न प्रदीप्त रहे तो तीनों लोकों में अन्धकार ही अन्धकार होगा।[103]

सृष्टि का विकास-

भर्तृहरि शब्द की तीन अवस्थाओं को मानते हैं पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। नागेश ने जिसको ''परा'' नाम दिया है उसको भर्तृहरि तृतीय अवस्था पश्यन्ती मानते हैं। उसी से संसार की सृष्टि होती है।[104]

भर्तृहरि के अनुसार सृष्टि का विकास शब्द ब्रह्म से होता है तथा उसी में वह सृष्टि लीन होती है।[105]

शब्दशक्ति का स्वरूप-

भर्तृहरि ने शब्द शक्ति की व्यापकता का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। शब्दशक्ति का व्यावहारिक जीवन में क्या उपयोग है, इसका भी विशदविवेचन किया है। ऋग्वेद 10. 114.8. में कहा है कि ''यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्'' अर्थात् जितना व्यापक ब्रह्म है उतनी ही वाग्देवी। भर्तृहरि वेदों और ब्राह्मणों में प्रतिपादित वाक्शक्ति या शब्दशक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि शब्दों में यह शक्ति है कि वह संसार को एक सूत्र में बांधे हुए है। शब्द ही नेत्र है अर्थात् समस्त वस्तुओं का ज्ञापक है। समस्त अर्थ प्रतिभारूप है। शब्द ही वाच्य और वाचक रूप से भिन्न प्रतीत होता है।[106]

व्यवहार में शब्द की उपयोगिता-

पुण्यराज ने इसकी व्याख्या में एक श्रुति का वचन उद्धृत किया है। श्रुति का कथन है कि वाक्शक्ति ही अर्थ को देखती है। अर्थात् वाक् तत्त्व जब बुद्धि रूप विवर्त को प्राप्त होता है तब अर्थ का ज्ञान करता है। वाक् शक्ति ही बोलती है अर्थात् समस्त व्यवहार की साधनभूत है। वाक् शक्ति ही शक्ति रूप से विद्यमान होकर अर्थ को विस्तृत करती है। समस्त

संसार नाना रूपों को धारण करता हुआ उसी में निबद्ध है। उसी एक वाक् शक्ति का विभाजन करके समस्त संसार का व्यवहार चलता है।[107]

शब्दमूलक समस्त ज्ञान-

संसार में जितना कुछ भी लोक व्यवहार है, वह शब्द के ही अधीन है। यदि यह कहा जाये कि नवजात बालक को शब्द ज्ञान नहीं है, उसे किस प्रकार प्रतीति होगी। इसके विषय में भर्तृहरि कहते हैं कि बालक भी पूर्वजन्म के संस्कार के कारण शब्दों के द्वारा इतिकर्त्तव्यता को जानता है।[108] पशु-पक्षियों आदि में जो ज्ञान-शक्ति है, वह भावनामूलक ही है। पूर्वजन्म के संस्कार से ही वह प्रत्येक अर्थ का ज्ञान करता है। अतः किसी प्रकार के ज्ञान को प्रतिभा से पृथक् नहीं कर सकते।[109]

भर्तृहरि का मानना है कि संसार का समस्त ज्ञान शब्दमूलक है। अतएव वे कहते हैं समस्त विद्याएं तथा समस्त शिल्पशास्त्र तथा समस्त कलाएं शब्दशक्ति से सम्बद्ध हैं। शब्द ही वह शक्ति है, जिसके द्वारा उत्पन्न हुई समस्त वस्तुओं का विवेचन और विभाजन किया जाता है।[110]

शब्द और अर्थ की एकरूपताः-

भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द और अर्थ एक ही आत्मा के दो स्वरूप हैं। दोनों की पृथक् पृथक् स्थिति नहीं है। इनमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। जो बाह्य जगत् में भेद ज्ञात होता है वह तात्विक नहीं है।[111] कविकुलगुरु कालिदास ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध श्लोक लिखा है कि शिव और पार्वती इसी प्रकार अभिन्न हैं जैसे शब्द और अर्थ।[112]

शब्द की चैतन्यरूपता-

शब्द शक्ति ही समस्त प्राणियों में चैतन्यरूप से विद्यमान है। बाह्य जगत् लोक व्यवहार का साधन है और अन्दर सुखदुःख आदि के ज्ञान के रूप में है। समस्त प्राणिमात्र में ऐसा कोई नहीं है, जिसमें वह शब्दशक्तिरूपी चैतन्य न हो। कोई यह मानते हैं कि चितिक्रिया वाक्शक्ति के बिना नहीं रहती। अन्य आचार्यों का मत है कि वाक् शक्ति ही चेतना है।[113] जो कुछ भी लौकिक व्यवहार है, वह वाक्शक्ति के द्वारा ही चल रहा है। वाक्शक्ति ही प्राणियों को प्रत्येक कार्य में प्रेरित करती है। यदि वाक्शक्ति न रहे तो समस्त संसार काष्ठ और भित्ति के तुल्य निश्चेतन ही दिखाई पडेगा।[114]

वाक् के विषय में प्राचीन व आधुनिक मत :-

यहां प्राचीन का अर्थ प्राचीन जातियों के संदर्भ में है। मिश्र और यूनान आदि के अति प्राचीन लोग देवों तथा विभूतियों में विश्वास करते थे। उनके विद्वानों ने देवी वाक् के स्वरूप के विषय में वर्णन किया है-

(क) मिश्र के प्राचीन विश्वास के विषय में मर्सर लिखता है–

Egyptians had their 'sacred writing'..... 'writings of the word of the gods' often kept in a "house of sacred writing."[115]

अर्थात् मिश्र के लोग अपने पवित्र लेख रखते थे। 'देवों के शब्दों का लेख' जिसे वे प्राय: 'पवित्र लेखों का घर' में रखते थे।

(ख) मिश्री विद्वान् इस लेख के लिए दक्.दजत (न्द्व–न्त्र[116]–The speech of gods) शब्द का प्रयोग करते थे। नि:सन्देह मिश्री भाषा के 'न्द्व' पद में 'द्व' शब्द देव शब्द का संकेत करता है, और 'न्त्र' पद वाग्वाची वैदिक शब्द 'मन्द्रा' का बोध कराता है अर्थात् मिश्र के लोग देवों की वाणी को देवमन्द्रा कहते थे।

(ग) यूनान का प्रसिद्ध प्राचीन लेखक होमर (ईसा से 800 वर्ष पूर्व) 'देवों की भाषा और मानवी भाषा' का वर्णन अपने लेख में करता है– The language of gods and of men.[117]

उसके पश्चात् भाषा पर परीक्षण का कार्य यूरोप में आरम्भ हुआ, इसे scientific ंहम या विज्ञान का युग नाम दिया गया। गत दो शतियों में योरोप के कुछ लोगों ने विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आरम्भ किया। जब पाश्चात्य लोगों के पास संस्कृत पहुंची तो एक विद्वान् ने कहा कि संस्कृत योरोपीय भाषाओं की जननी है। उससे संसार के पुरातन इतिहास पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ेगा। फ्रईड्रिश श्लेगल ने इन्हीं भावों का ओजस्वी शब्दों में उल्लेख किया है।

F.Schelegel ḤḤḤḤ wrote that he expected nothing less from India than ample information on the history of the primitive world, shrouded hitherto in utter darkness.[118]

अर्थात् कि वह भारत से महती आशा रखता है। भारत द्वारा, अब तक पूर्ण अन्धकार–आवृत्त संसार के पुरातन इतिहास का ज्ञान मिलेगा।

इस प्रकार वाक् के जो बीज हमें वेद में दिखलाई पड़ते है वो अब स्वतन्त्र दर्शन अर्थात् स्वतन्त्र विषय का रूप ले चुके हैं। निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि वाक् सभी चेतन व अचेतन तत्त्वों में विद्यमान है। आनन्द रूप होकर स्थित रहता है।[119] वैयाकरणों के इस सिद्धांत की पुष्टि आधुनिक विज्ञान ने भी की है। डॉ. ओस्कर ब्रनलर ने 25 वर्ष के अनवरत अध्यवसाय के अनन्तर वैज्ञानिक पद्धति से वैयाकरणों के स्फोट सिद्धांत की सम्पुष्टि की है। उनका कथन है कि पर्वतों, वृक्षों और वनस्पतियों आदि के अन्दर स्फोट की सिद्धि ने मुझे इस निर्णय पर पहुंचाया है कि पृथ्वी पर प्रत्येक पदार्थ में स्फोट हो रहा है। यदि हम वैज्ञानिक ढंग से यह सिद्ध कर देते हैं और जैसा हम सिद्ध करते हैं कि पृथ्वी पर प्रत्येक पदार्थ में स्फोट है तो असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि मानव में भी स्फोट है। प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में भी प्रतिक्षण स्फोट होता है।[120]

सन्दर्भ एवं पादटिप्पणियां-

1. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
   एनं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।।-सायण, ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका, पृ.-39.
2. डॉ. एस. एन. दासगुप्ता : ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, वाल्यूम-9, पृ. 10.
3. 'यस्य निश्वसितं वेदाः'- सायण के ऋग्भाष्य का मंगलाचरण, ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व (डॉ. गणेशदत्त शर्मा, अध्याय-1, पृ.सं.-3.
4. दर्शन शब्द पर वी.एस. आप्टे : संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (मोनियर विलियम : संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।
5. दर्शन शब्द पर हलायुध कोष।
6. ऋग्वेद में दार्शनिक, डॉ. गणेशदत्त शर्मा, विषयप्रवेश, पृ.सं.9.
7. ऋग्वेद-1/40/6, 8/9/16, 9/95/5 इत्यादि।
8. वाक् कस्मात् वचेः। निरुक्त-2/23.
9. यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान। 10/23/5.
10. भारतीय अर्थविज्ञान, हरिसिंह सेंगर, दिल्ली, पृ0-166.
11. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृणवन्न शृणोत्येनाम्।
    उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।। 10/71/4.
12. निरुक्त-1/4.5 (वैदिक कोश, डॉ. सूर्यकान्त, पृ0-354.
13. चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
    त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश। 4/58/3.
14. यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्। 10/71/3.
15. अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन (कपिलदेव द्विवेदी (वाराणसी, 2008, पृ.20.
16. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
    अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।। 10/125/1.
17. अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
    अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते।। 10/125/2
18. अहं राष्ट्री संगमनीवसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
    तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।। 10/125/3
19. मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ई शृणोत्युक्तम्।
    अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।। 10/125/4
20. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
    यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।।-;. 10/125/5
21. अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
    अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश।। 10/125/6
22. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
    ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि।। 10/125/7
23. अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
    परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव।। 10/125/8

24. सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् धावापृथिवी तावदित् तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।। 10/114/8
25. देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्ज दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु।। 8/100/11
26. सहस्रधारे विततते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः। 9/73/7
27. हिन्वानो वाचं मतिभिः कवीनाम्। 9/97/32
28. वाचा विप्रास्तरत वाचम्। 10/42/1
29. उद्धरेदात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। गीता-6/5
30. पतंगो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति।। 10/177/2
31. तां मां देवा व्यदधुः पुरुत्रा।
भूरि स्थात्राम् भूर्यावेशयन्तीम्।। 10/125/3
32. यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्। 1/101/5
33. ऋग्वेद-10/114/9
34. तवेमे पंच पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः।
तुभ्यमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
तव यक्षं पशुपते, अप्स्वन्तस्, तुभ्यम् क्षरन्ति दिव्याआपो वृधे।।-अथर्व. सं.-11/2/924
35. देवीं वाचमजनयन्त देवास्, तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। -ऋग्वेद 8/100/11
36. विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायाः। 1/92/9
37. तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्। 8/75/6
38. ऋग्वेद-1/164/27.
39. पुनन्तिधीरा अपसो मनीषा देव या विप्र उदियर्ति वाचम्। 4/8/5
40. एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छत-वज्रा रिपुणा नाव-चक्षे। 4/98/5
41. गर्भे योषामदधुर्वत्समासन्यपीच्येन मनसोत जिह्वया। 10/53/11
42. अभुत्स्यु प्र देव्यासाकं वाचाहमश्विनोः।
व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः।। 8/9/16
43. विश्वस्यवाचमविदन्मनायोः। 1/92/9
44. पतंगो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वो अवदद्गर्भ अन्तः।
तां द्योतमानां स्वयं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति।। 10/177/2
45. ऋग्वेद-10/125/1.
46. समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुधन्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ।-यजु. 5/33.
47. चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी-यजु. 4/19
48. विश्वकर्म ऋषिः ..... वाचं गृह्णामि।-यजु. 13/58
49. ऋग्वेद-10/15/67
50. मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्। 1/164/10

51. बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं। यत् प्रैरत नामधेयम् दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्। प्रेणा तदेषां निहितम गुहावि:। 10/6.71/1
52. यावद् ब्रह्म विष्ठितं, तावती वाक्। 10/114/8
53. त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान, वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः।। 4/58/4
54. ऋग्वेद-10/126/5.
55. ऋग्वेद-10/125/6.
56. ऋग्वेद-10/125/8.
57. श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मण वित्तर्ते श्रिता।
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता।
स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता।।-अथर्ववेद-12/5/1-3
58. चत्वारिवाक् परिमिता पदानि। तानि विदुर् ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहात्रीणि निहता नेङ्गयन्ति। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।-महाभाष्य -1/1/1. 1/164/45
59. त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वितष्ठे, तेन जीवन्ति प्रतिदशश्चतस्रः।-अथर्ववेद- 9/10/19
60. दधामि ते द्युमतीं वाचमासन्। 10/71/4
61. महाभाष्य-1/1/9 पृ.196
62. ऋग्वेद-1/166/11 (5/18/4 (10/53/11 (94/2-3
63. ऋग्वेद-10/53/11.
64. क्रन्ददश्वो नयमानो रूवद् गौरन्तर्दूतो न रोदसी चरद्वाक्। 1/73/3
65. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् ममयोनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वो तामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि।। ऋग्वेद-10/125/7
66. ऋग्वेद-1/125/8
67. स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि।
तां पशव उपजीवन्ति सर्वं तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति।। अथर्व.- 9/1/20
68. इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः। अथर्ववेद-19/9/3
69. एतद् वैविश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्। अथर्ववेद-9/7/25
70. यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। ऋग्वेद-10/114/8
71. वाक् तु सरस्वती। ऐतरेय ब्राह्मण-3/1
72. न समुद्र क्षीयते। ऐतरेय ब्राह्मण-5/16
73. वाक् च मनश्च देवानां मिथुनम्। ऐतरेय ब्राह्मण-5/23
74. वाग्वै ब्रह्म च सुब्रह्मचेति, वाग्वै सुब्रह्मण्यो। ऐतरेय ब्राह्मण-6/3
75. वाग्वै सरस्वती। कौषीतकि ब्राह्मण- 5/2
76. वाग्वै शबली। ताण्ड्य ब्राह्मण। 21/31
77. वाग्वै समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः। ताण्ड्य ब्राह्मण- 6/4/7
78. वाग्वै सुपर्णी। श.ब्रा.-1/6/2/22
79. वागु सर्वभैषजम्। श.ब्रा.-7/2/4/20

80. वाग्वैमतिः वाचा हीदं सर्वं मनुते। श.ब्रा. 3/1/2/7
81. वाचम् धेनुमुपासीत, तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः। श.ब्रा. 14/8/9/1
82. वाग्वै विराट्। श.ब्रा. 3/5/1
83. वागेवाग्निः। श.ब्रा. 3/2/2/13
84. वाग्वै दृसीयसी। श.ब्रा. 1/4/7
85. वागैवार्थश्च सामानि च मन एव यजूंषि। श.ब्रा. 4/6/7/5
86. वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्। श.ब्रा. 1/4/1/2
87. वाग्वै ब्रह्म। श.ब्रा. 1/1/4/10
88. भारतीय भाषा दर्शन (डॉ. कैलाशपति मिश्र (कला प्रकाशन, 1996, पृ.सं.51
89. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैत्तिरीयोपनिषद्-2/4/5
90. वाग्गोचरानन्दो वाङ्मनोगोचरः स्वयमय। तेजोबिन्दूपनिषद्-5/52
91. वाग्वै सम्राट परमं ब्रह्म, नैनं वाग्जहाति, सर्वारापेनभूता न्यभिक्षरन्ति। बृहदारण्यकोपनिषद-1/1
92. शब्दाक्षरं परं ब्रह्म यस्मिन् क्षीणे यदक्षराम, तद्विद्वानक्षरं ध्यायेदयदीच्छेच्छन्निमात्मनः। ब्र.वि.उप.16
93. द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्, शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति। ब्र.वि.उप.17
94. एतदेवाक्षरं ब्रह्म, एतदेवाक्षरं परम्। एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा योयदिच्छतितस्यतत्।-प्रश्नोप.उप. 5/2/6
95. ओमित्येतदक्षरमुदगीथमुपासीत। ओमिति ह्युदगामयति तस्योपव्याख्यानम् एषां भूतानां पृथिवीरसः आपोरसोदयामोवधयो रस औषधीनां पुरुषो पुरुषस्यवाग्रसो वाच सृगस ऋचः सामरसः साम्न उद्गीथोरसः स एष रसानां रसतमः पराध्योष्ठमो यदुद्गथः। छा.उप.-1/1/2/3
96. ॐ मित्येकाक्षरम् नम इति द्वे अक्षरे नारायणायेति पञ्चाक्षराणि। नारा.उप. 3
97. ओमित्येदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव सर्व ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा। नृसिंहताप.उप.-4/1
98. वाक्यपदीय-1/1.
99. शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथमेतत् विश्वं व्यवर्तत।। वाक्यपदीय-1/120
100. वाक्यपदीय-1/120 की टीका
101. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।। वाक्यपदीय-1/123
102. वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।। वाक्यपदीय-1/124
103. इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसार न दीप्यते।। काव्यादर्श-1/4
104. वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थ भेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्।। वाक्यपदीय-1/143

105. तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते।।
ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्ति निबन्धनम्।
विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते।। वाक्यपदीय-1/1. टीका
106. शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।
यभेवः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते।। वाक्यपदीय-1/119
107. वागेवार्थ पश्यति वाग् ब्रवीति वागेवार्थ निहितं सन्तनोति।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते।। वाक्यपदीय-1/119 टीका
108. इतिकर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्द व्यपाश्रया।
यां पूर्वाहित संस्कारो, बालोऽपि प्रतिपद्यते।। वाक्यपदीय-1/121
109. साक्षात् शब्देन जनिता भावनाऽनुगमेन वा।
इतिकर्त्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्ततं।। वाक्यपदीय-2/148
110. सा सर्व विद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते।। वाक्यपदीय-1/125
111. एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ।। वाक्यपदीय-2/31
शब्दार्थावभिन्नावेकस्यान्तरस्य तत्त्वस्य सम्बन्धिनौ वस्तुतः बहिः स्थितौ भेदाविव प्रतिभासेते।-पुण्यराज।
112. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। रघुवंश-1/1
113. सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु।। वाक्यपदीय-1/126
114. अर्थ क्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्।। वाक्यपदीय-1/127
115. P.12, The Religion of Ancient Egypt, Mercer. S.A.B., 1949
116. P. 87, The story of Language, Maerio Pai
117. PP. 299-303, Asianic Elements in greek civilization, Ramsay.
118. P.X Appendix-I, A second selection of Hymns from the Rigveda, Zimmerman, 1939.
119. यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा। ऋग्वेद-8/100/10
120. अमृत बाजार पत्रिका, 26 जून 1949.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (51-64) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

श्री अरविन्द-अभिमत राष्ट्रीय शिक्षा

–डॉ० सुषमा अलंकार
अध्यक्षा, संस्कृत विभाग
डी.ए.वी. कालेज, सैक्टर-10, चण्डीगढ

कलकत्ता के नेशनल कालेज में अध्यापन कार्य करते हुए श्री अरविन्द ने 'कर्मयोगी' नामक पत्रिका में अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों को विस्तृत रूप से प्रकट किया। वे भारतीय शिक्षा पद्धति के पक्षधर थे। यद्यपि वे स्वयं इग्लैंड के विदेशी ढंग से पले, बड़े हुए पर उन्हें वह पद्धति बिल्कुल भी अच्छी नहीं लगती थी। उन्हें–

"ब्रिटिश पद्धति से पढ़ाने के तरीके से 'घृणा' हो गई थी जिस पद्धति को उन्होंने बड़ौदा काल के अध्यापक में पूरा-पूरा अनुभव कर लिया था। उन्होंने अनुभव किया कि यह पद्धति नीरस, उबाऊ है, जो स्वाभाविक रूप से तेज और प्रतिभाशाली भारतीय मस्तिष्क को संकीर्णता के चौखटे में कस देती है।"[1]

श्री अरविन्द के अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा पर विचार करने से पहले शिक्षा के स्वरूप को जानना आवश्यक है। जब तक शिक्षा के विषय में पता नहीं होगा तब तक उसके व्यापक रूप राष्ट्रीयशिक्षा को तो बिल्कुल भी नहीं समझ पाएंगे। देश की गुलामी की स्थिति में तो यह जानना और भी जरूरी हो जाता है, क्योंकि राष्ट्र की वर्तमान शिक्षा नीति, जो विदेशियों के हाथ में थी। इस गम्भीर स्थिति में कोई भी विचारक विचलित हुए बिना नहीं रह सकता है। श्री अरविन्द के अनुसार–

"हमारे देश की विशेष स्थिति में जहाँ एशियाई और यूरोपीय चेतनाओं का उनके द्वारा निर्मित विभिन्न सभ्यताओं का और अंग्रेज तथा भारतीय मानस और संस्कृति का आपस में संघर्ष होता है इतना ही नहीं, जहाँ राजनीतिक दासता ने शिक्षा देने का पूरा-पूरा अधिकार विदेशियों के हाथों में छोड़ दिया है, स्थिति गम्भीर हो जाती है। इस विषय पर स्पष्ट विचारों के अभाव में ज्यादा सम्भावना यही रहती है, और हुआ भी यही है कि बहुत बड़ा और अशान्तिजनक गडबडझाला पैदा हो जाता है।"[1]

अंग्रेजी शासकों ने भारत में आधुनिक शिक्षा को आरम्भ किया लेकिन अपने स्वार्थ के लिए। अंग्रेजों को अपना शासन चलाने के लिए ऐसे लोगों की आवश्यकता थी जो उनके दफ्तरों में बाबूगिरी कर सकें उनकी भाषा समझ सकें, इसके लिए उन्होंने एक कार्य आरम्भ किया और वह था विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में आधुनिकता के नाम पर अपनी भाषा,

अपने विचार बढ़ाना। उनका एकमात्र उद्देश्य था भारतीय मन-मस्तिष्क पर साम्राज्य करना। श्री अरविन्द स्वयं ये मानते थे कि वह नीति उचित नहीं है–

"वर्तमान विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती है, वह बुरी है और फिर राष्ट्रीयता हनन करने वाली है, राष्ट्रीय मानस, आत्मा और चरित्र को नीचा गिराने वाली और दरिद्र बनाने वाली है, क्योंकि ऊपर विदेशी हाथ की छाया है, उसका लक्ष्य, उसका तरीका, उसका तात्पर्य और भावना सब कुछ विदेशी है।"[2]

कहने का अभिप्राय है कि अंग्रेजों ने अपनी नीतियों को भारतीयता का आवरण डाल कर, भारतीयों को ही परोसा। आज भी समस्या देखने को मिल रही है। राष्ट्रीय शिक्षा के नाम पर हम अपने बच्चों को क्या दे रहे हैं, मात्र अन्धानुकरण। इतिहास उठाकर देखिए- जो अंग्रेजों की दृष्टि थी उसी का चश्मा लगाकर हमारे इतिहासकार भारतीय इतिहास लिख रहे हैं और हम पढ़ रहे हैं। हमारी सारी शिक्षा नीति अंग्रेजीपन से प्रभावित है। कहने को हम आजाद हैं, लेकिन बरसों की गुलामी, जो हमारे तन-मन में रच बस गई वह आजाद होने के बाद भी खत्म नहीं हुई है। श्री अरविन्द के अनुसार इस समस्या का कोई समाधान नहीं क्योंकि जिनसे समाधान की आशा है वे स्वंय इस रंग में रंगे हुए हैं, मात्र थोड़ा-सा फेर बदल कर देने, नाम बदलने से समस्या का समाधान नहीं है–

"इस पद्धति के स्थान पर किस चीज को बिठाया जाये? .....किसी भी विद्यालय, महाविद्यालय, समिति या शिक्षा-परिषद् के नाम के साथ राष्ट्रीय विशेषण का बिल्ला लगा देने से और उसे ऐसे देसी लोगों के हाथ में रख देने से, जिनमें से अधिकतर ने उसी पद्धति से शिक्षा पायी है, जिसका हम विरोध कर रहे हैं, उसी कलंकित पद्धति को कुछ थोड़े से अन्तर के साथ, कुछ घटा-बढ़ाकर, विस्तार और पाठ्यक्रम में थोड़ा-सा फेर-फार करके, जरा से तकनीकी पहलू को अपनाकर यह मान बैठने से कि हमने समस्या का हल कर दिया, कुछ भी नहीं बदलता।"[1]

श्री अरविन्द का वर्तमान शिक्षा पद्धति को देखकर यह विचार बिल्कुल नहीं था कि हम भारतीयता या पुनरुत्थान के नाम पर पुराने सिद्धान्त या पद्धति अपनाये, जिसका कभी प्राचीन भारत में चलन था। नहीं वे इस बात पर सहमत नहीं थे। हमारा प्राचीन चाहे कितना ही अच्छा क्यों न था लेकिन वह प्राचीन था। आज की आवश्यकताएँ तब से भिन्न हैं। आज जिस चीज की सबसे ज्यादा आवश्यकता है वह है वर्तमान स्थिति के नियन्त्रण की, ताकि सब कुछ हाथ से निकल न जाए। हमें ऐसी चीज की आवश्यकता है जो सामयिक पद्धति से ज्यादा गहरी, महान् और सूक्ष्म चीज प्रदान करे जो सचमुच में ही भारतीय है, जो प्राचीन भारत के गौरव के साथ आधुनिक भारत का प्रतिनिधित्व करती हो, उसकी आत्मा को उजागर करे। आधुनिकता के नाम पर पिच्छलग्गू न बने, वरन् दूसरे को अपने पीछे आने के लिए मजबूर करे जैसा कि पहले भारत में होता आया था। लोग हमारे ज्ञान और हमारी संस्कृति का आदर करें–

"हम एक ऐसी शिक्षा चाहते हैं जो भारतीय आत्मा के अनुकूल हो। यहाँ की आवश्यकताओं यहाँ के स्वभाव और यहाँ की संस्कृति के साथ मेल खाती हो। हम ऐसी चीज की खोज में नहीं हैं जो केवल हमारे भूतकाल की अनुकृति हो, बल्कि विकसनशील भारतीय आत्मा, उसकी भावी आवश्यकताओं, उसके भावी आत्मनिर्माण की महानता और उसकी शाश्वत आत्मा के अनुरूप हो।"[2]

राष्ट्रीय शिक्षा में सार्वभौमिकता :-

राष्ट्रीय शिक्षा से अभिप्राय श्री अरविन्द का पूर्णत: देश प्रेमी या अच्छा नागरिक बनाना नहीं है। देश प्रेम या अच्छा नागरिक तो हर शिक्षा का उद्देश्य है ही चाहे भारतीय शिक्षा हो या पश्चिमी शिक्षा। शिक्षा से अभिप्राय ऐसा ज्ञान है जो जीवन को दिशा प्रदान करे, पूर्णता प्रदान करे, व्यक्ति जहाँ भी जाए गर्व व ज्ञान से युक्त अपनी गरिमा बनाये, मानसिक, आध्यात्मिक व बौद्धिक दृष्टि से सक्षम हो, उसका दृष्टिकोण विकसित हो। भारतीयता के नाम पर संसार में पिछड़े नहीं और आधुनिकता के नाम पर भारत को छोड़े नहीं। शिक्षा वही अच्छी है जो हर स्थान व हर क्षेत्र में व्यक्ति को उसकी गरिमा के साथ सफलता दिलाये, सभी देशों की सीमाओं से हर ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो। आज का जीवन ज्ञान- विज्ञान का युग है। उसमें आधुनिक शिक्षा पद्धति का ज्ञान होना भी आवश्यक है। अगर हम आर्यभट्ट, वराह मिहिर आदि को पढ़ते हैं तो हमें न्यूटन, गैलिलियो को भी पढ़ना होगा। शिक्षा में सार्वभौमिकता का तत्त्व अत्यावश्यक है। राष्ट्र को उन्नत करना है तो राष्ट्रीय शिक्षा का रूप सार्वभौम होना चाहिए। संसार में स्थान निर्धारित करने के लिए जो अच्छा है वह अपनाना होगा, चाहे वह अपना है या पराया, आधुनिक है या प्राचीन है स्वदेशी है या परदेशी–

"हमें सत्य और ज्ञान की दौड़ में आगे रहना चाहिए और अपने आपको वास्तविक परिस्थितियों में जीने के योग्य बनाना चाहिए। इसलिए हमारी शिक्षा को अपने रूप और वक्त की दृष्टि से अद्यतन और जीवन तथा भावना में आधुनिक होना चाहिए।..... हमें भावना के साथ जीवित जागृत और प्राणवान् सत्ता के साथ काम है। इसमें प्राचीन और अर्वाचीन का प्रश्न नहीं है। यहाँ चुनाव है बाहर से लायी हुई सभ्यता और भारतीय मन और स्वभाव की अधिक महान् सम्भावनाओं के बीच, वर्तमान और अतीत के बीच नहीं, वर्तमान और भविष्य के बीच। पांचवी शताब्दी की ओर वापिस जाने की नहीं, आने वाली शताब्दियों के उपक्रम की मांग है।"[1]

लेकिन आधुनिक शिक्षा से मात्र अभिप्राय यह नहीं है कि इधर-उधर से जानकारी हासिल की जाए। अगर जानकारी ही शिक्षा होती तो कुछ देशों ने विज्ञान या भौतिक विषयों में बहुत उन्नति कर ली है, फिर तो वही सबसे ज्यादा शिक्षित देश होते और बाकि बेकार। लेकिन ऐसा नहीं है। शिक्षा मात्र भौतिक उन्नति या वैज्ञानिक ज्ञान नहीं है। अगर ऐसा होता तो भारत कभी भी आगे नहीं आ पाता। भारत के हमेशा से अपने मूल्य अपनी संस्कृति व

विचार रहे हैं। लेकिन अब आवश्यकता है इस भौतिकता व वैज्ञानिकता को भारतीय मानस की विशेष रंगत, उसकी मनोवैज्ञानिक परिपाटी और सांस्कृतिक तत्त्व के साथ युक्त किया जाए तो इसमें एक विशेषता उत्पन्न हो जाएगी–इसमें हमें अपनी भाषाओं संस्कृत या अन्य भारतीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना होगा ताकि हम अपनी संस्कृति, शक्ति और भविष्य की आधुनिक शक्ति के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकें। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि आधुनिक विदेशी भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त करें ताकि हम उनके विचार, जीवन और संस्कृति को जान सकें। श्री अरविन्द ने बरसों पहले जो सार्वभौमिकता की बात की थी उसका महत्त्व आज पता चल रहा है, और उसी दृष्टिकोण को अपना कर हमारी राष्ट्रीय शिक्षा नीतियाँ बन रही हैं।

लेकिन, इसके साथ यह भी जरूरी है कि हम भले ही भाषा अन्तर्राष्ट्रीय अपना लें, ज्ञान विदेशी अपना लें लेकिन इनकी आत्मा भारतीय ही हो, तभी यह उपादेय है अन्यथा बात वही होगी कि रूप बदल गया है लेकिन हम अब भी गुलाम। श्री अरविन्द की यह बात बिल्कुल सही है, आज भारतीयों ने विश्व में जो अपना स्थान बनाया है वह मात्र उनके अंग्रेजी पढ़ने या तकनीकी ज्ञान में उन्नत होना ही नहीं है अपितु इसके पीछे जो सबसे मुख्य बात है वह है उनकी भारतीय आत्मा उनकी संस्कृति, उनके मूल्य, इन सबके मिश्रण से युक्त भारतीयों का आज हर स्थान पर आदर किया जा रहा है। आज यूरोपीय समाज का जो ह्रास हो रहा है उसके पीछे शायद यही कारण है कि भौतिकता की दौड़ में उन्होंने आत्मा, मूल्यों को कुचल दिया–

"आज जब कि यूरोप के सबसे अग्रगण्य मनीषी पश्चिम की इस सान्ध्यवेला में नयी और आध्यात्मिक सभ्यता के लिए एशिया की प्रतिभा की ओर आशा के साथ टकटकी लगाये हैं, यह एक विचित्र बात होगी कि हम अपने और अपनी सम्भावनाओं को फेंक कर यूरोप के विलीन होते हुए मरणासन्न भूत पर विश्वास टिकायें।"[1]

अन्ततः राष्ट्रीय शिक्षा पर वर्षों पूर्व लिखे श्री अरविन्द के विचार सामयिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसा लगता है कि ये विचार उन्होंने वर्षों पहले नहीं अपितु आजकल ही लिखे हैं। शिक्षा में राष्ट्रीयता, संस्कृति, संस्कार, मूल्यों के साथ आधुनिकता व सार्व-भौमिकता का समावेश आज की जरूरत है और इस जरूरत को उन्होंने वर्षों पहले पहचाना तथा इसके सही रूप पर प्रकाश डाला।

मन की शक्तियाँ :-

बच्चे को जो भी शिक्षा प्रदान की जाती है वह मन के माध्यम से दी जाती है। यानि की शिक्षक का शिक्षा प्रदान करने का मुख्य उपकरण है–मन। श्री अरविन्द ने इस मनरूपी उपकरण के चार स्तर माने हैं जो इस प्रकार हैं–चित्त, मानस, बुद्धि, चरम विवेक–ये वे

चार शक्तियाँ हैं जिनको आधार बनाकर शिक्षक शिक्षा प्रदान करता है। यहाँ पर हम श्री अरविन्द के मन की शक्तियों सम्बन्धी विचारों का साररूप प्रस्तुत करेंगे–

चित्त :-

यानि पिछले मानसिक संस्कारों का भण्डार या स्मृतियों का गोदाम। इसे स्मरण की क्रिया-विशेष से अलग करके देखना चाहिए, यही नींव है। यानि बाकि के सभी स्तर इसी पर आधारित हैं। सभी अनुभूतियाँ हमारे अन्दर निष्क्रिय या सामान्य स्मृति के रूप में रहती हैं। लेकिन सक्रिय स्मृति एक ऐसे आदमी की तरह है जो ताले में बन्द बहुत बड़ी राशि में से कुछ ढूंढ रहा है। और कई बार उस चीज को नहीं ढूंढ पाता जिसे वह खोज रहा है और कई बार वह ऐसी चीजें भी पा लेता है जिनकी उसे आवश्यकता नहीं होती और कई बार गलत चीज को सही मान लेता है। चित्त को किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है। वह स्वचालित और स्वाभाविक रूप से अपने काम के लिए पर्याप्त है। चित्त को, जो उच्चतर परन्तु कम विकसित क्षमता वाला है, उन्नत करने की जरूरत है।

मानस :-

भारतीय मनोविज्ञान की छठी ज्ञानेन्द्रिय मानस का कार्य है वस्तुओं के बिम्ब को दृष्टि, श्रुति, घ्राण, स्वाद और स्पर्श के द्वारा प्राप्त करना और फिर उन्हें विचार संवेदनों में अनूदित करना। ये संवेदन स्वयं विचार न होकर विचार की सामग्री होते हैं। लेकिन यह आवश्यक है कि ये विचार आवश्यक व पूर्ण सामग्री लेकर कार्य करें। इसलिए शिक्षक का पहला यह कार्य है कि बच्चे में इन छहों इन्द्रियों के ठीक उपयोग की क्षमता विकसित करे। अध्यापक के निर्देशन में स्वयं बालक इन्हें प्रशिक्षित करें इसके अतिरिक्त कर्मेन्द्रियों से जितनी सहायता प्राप्त हो सकती है उसका पूरी तरह उपयोग किया जाए।

बुद्धि :-

बुद्धि विचार का वास्तविक उपकरण है, तथा यह अन्य भागों द्वारा अर्जित ज्ञान को सुव्यवस्थित करती है। बुद्धि में अनेक प्रकार की क्षमताओं के समूह होते हैं जिन्हें दो महत्त्वपूर्ण भागों में बांट सकते हैं। दाहिने हाथ की क्षमताएँ व्यापक, सर्जनात्मक और समन्वयात्मक होती हैं। बाएँ हाथ की क्षमताएँ आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक होती हैं। निर्णय, मूल्यांकन, कल्पना, स्मृति, अवलोकन दाहिने हाथ की चीजें हैं, तुलना और तर्क बाएँ हाथ की। दाहिने हाथ की क्षमताएँ समझती, आज्ञा देती और अपने अधिकार से निर्णय करती, पूरी तरह समझती, बात को पकड़ लेती और परिचालित करती हैं। दाहिने हाथ का मन ज्ञान का स्वामी होता है और बाएँ हाथ का मन उसका सेवक। बायाँ हाथ ज्ञान के शरीर को ही छूता है और दाहिना हाथ उसकी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है। मानव तर्क-बुद्धि की पूर्णता के लिए दोनों जरूरी हैं। बच्चे की शिक्षा को पूर्ण करने के लिए इन सभी क्षमताओं को उच्चतम शिखर पर पहुँचाना होगा।

चरमविवेक :-

क्षमता का चौथा स्तर धीरे-धीरे विस्तृत और विकसित होता जा रहा है, जो पहले नहीं था। ज्ञान के इस उच्चतर स्तर पर परिचय हमें प्रतिभाशाली व्यक्तियों से मिलता है। चरम विवेक, सत्य का अन्तर्भासात्मक दर्शन, वाणी को प्राप्त पूर्ण अन्तः प्रेरणा ज्ञान का ऐसा प्रत्यक्ष दर्शन जो प्रायः अन्तःप्रकाश तक पहुँच जाता है और मनुष्य को सत्य का द्रष्टा बना देता है।

मानव जाति इन क्षमताओं की सहायता के विना अपनी वर्तमान स्थिति तक प्रगति न कर पाती।

नैतिकता का विकास :-

"जो बौद्धिक शिक्षा नैतिक और भावात्मक प्रकृति की पूर्णता से अलग रहती है वह मानव प्रगति के लिए हानिकारक होती है।"[1]

श्री अरविन्द सामान्य शिक्षा में नैतिकता पर पूर्ण जोर देते थे-उनके अनुसार पाठ्यक्रम में मन के प्रशिक्षण के लिए, नैतिकता पर अवश्य बल देना चाहिए क्योंकि यह अन्तःकरण में कुछ विचारों के बीज फैला देती है और अगर उन विचारों का अभ्यास हो जाए तो आचरण पर उनका असर पड़ता है। और इसके लिए यह आवश्यक है कि बच्चे को अपनी नैतिक प्रकृति के साथ उसके अन्दर उदात्त भावों, उत्कृष्ट मानसिक, भावात्मक आदतों का विकास किया जाए और यह विकास तभी संभव है जब उसे उत्तम प्रकार की नैतिकता प्रदान की जाए। बच्चे की प्रकृति और नैतिकता में मेल अवश्य होना चाहिए कुछ भी बाहर से थोपा हुआ नहीं होना चाहिए, क्योंकि थोपी हुई चीज, आडम्बरपूर्ण, हृदयहीन होती है। अतः इन सबसे बचने के लिए आवश्यक है कि बच्चे के हृदय और प्रकृति को अपने साथ लेकर चलें। अगर शिक्षा में नैतिकता का अभाव होगा तो पूरी मानव जाति के भ्रष्ट होने का डर रहता है।

आज के संदर्भो में श्री अरविन्द के इन विचारों की उपादेयता और भी महत्त्वपूर्ण बन जाती है। हम अपने चारों तरफ देखते हैं कि आधुनिकता की इस आंधी दौड़ में भारतीय नैतिक मापदण्ड कहीं पीछे छूट गए हैं बच्चों को इंजीनियर, डॉक्टर तो बनाया जा रहा है लेकिन उन्हें नैतिकता का वह पाठ नहीं पढ़ाया जाता है जो उन्हें एक सच्चा व आदर्श डॉक्टर या इंजीनियर बनाए। पश्चिमी संस्कृति का अंधानुकरण आज की युवा पीढ़ी को ऐसी दिशा की ओर बढ़ा रहा है जिसका कोई अन्त नहीं है। मानवीय सम्बन्धों में उपेक्षा, आत्मीयता का अभाव, एक दूसरे के प्रति आदरभाव का ह्रास-यह आधुनिक शिक्षा प्रणाली की देन है। यदि बच्चों को इन सबसे बचाना है तो शिक्षा में नैतिकता का समावेश करना होगा। नैतिक मूल्यों का संवर्धन ही बच्चों को सच्चा मानव बनाती है।

प्राचीन पद्धति का प्रयोग :-

श्री अरविन्द शिक्षा में नैतिक ज्ञान के लिए प्राचीन पद्धति के महत्त्व को पूर्ण मानते थे–

"नैतिक अनुशासन के लिए प्राचीन भारतीय शिक्षा बहुत अधिक उत्कृष्ट थी जिसमें गुरु अपने ज्ञान और अपनी पवित्रता के कारण शिष्य से निर्विवाद आज्ञापालन, पूर्ण सराहना, आदरपूर्ण अनुकरण पाता था।"[1]

अभिप्राय यह है कि बच्चे में नैतिकता का विकास करने के लिए आवश्यक है कि उसके सामने वैसे उदाहरण रखे जाएँ और सबसे उत्तम उदाहरण है स्वयं अध्यापक। अध्यापक का आचरण, छात्र पर सबसे ज्यादा प्रभाव डालता है। तत्पश्चात् माता-पिता आते हैं।

सुझाव देना :-

बच्चे में नैतिक प्रशिक्षण देने के लिए, श्री अरविन्द के अनुसार–पहला नियम है सुझाव देना या निमंत्रण देना। यानि की उसको प्रतिदिन होने वाली बातों से सामान्य रूप से रोज पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों से, व्यक्तिगत उदाहरणों से नैतिक प्रशिक्षण देना। क्योंकि–

"छोटे बच्चों के लिए इन किताबों में भूतकाल के महान् उदाहरण नैतिक सीख के रूप में नहीं मानव रस के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में दिए जाएँ और बड़े विद्यार्थियों के लिए महान् भावों को जगाने वाले, उच्चतम आदर्शो और अभीप्साओं को प्रेरित करने वाले साहित्य के अंश, इतिहास और जीवन के ऐसे प्रसंग जो इन महान् विचारों उदात्त भावों और अभीप्सा भरे आदर्शो को जीवन में उतारने के साधन हों। यह ऐसा सत्संग है जो प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता बशर्ते कि आडम्बर पूर्ण उपदेशों से बचा जाए।"[2]

बच्चे में नैतिकता के विकास के लिए यह अत्यावश्यक है कि उसके अन्दर जो कुछ भी अच्छा है, उत्तम है उसे बाहर लाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए–अगर उसमें उसके स्वभाव में कुछ भी अवांछनीय है तो उसे डांट फटकार कर नहीं प्यार और स्नेह से दूर किया जाए। उसे यह बताया जाए कि ये दुर्गुण जघन्य पाप नहीं अपितु शरीर और मन के रोग हैं, जिनसे दूर होने का प्रयास करना चाहिए। तभी इनसे छुटकारा मिल सकता है, सख्ताई से कभी कुछ नहीं सुधारा जा सकता है, और बच्चे तो बिल्कुल भी नहीं। आज भी हम देखते हैं कि बच्चों के साथ कुछ भी जोर जबरदस्ती नहीं की जा सकती, उन्हें जो भी बताना है वह प्यार और स्नेह से। सख्ती से उसमें विद्रोह उत्पन्न होने का डर रहता है। अध्यापक और माता-पिता का यह कर्त्तव्य कि वे बच्चे में नैतिकता का, आदर्शों का समावेश करें, लेकिन पथ-प्रदर्शक के रूप में, सहयोगी के रूप में, न कि तानाशाह के रूप में। कुछ बच्चों में अगर कुछ दुर्गुण दिखाई भी देते हैं तो उन पर आवरण नहीं डालना चाहिए और न ही उन्हें दबाना चाहिए अपितु उन्हें परिष्कृत करना चाहिए, शुद्ध करना चाहिए।

मनुष्य की नैतिक प्रकृति के साथ व्यवहार करते हुए तीन चीजें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं–भाव, संस्कार या बनी हुई आदतें और सम्बन्ध व स्वभाव। अपने आपको नैतिक दृष्टि से प्रशिक्षित करने का एक ही तरीका है अपने आपको समुचित भावों, उदात्ततम सम्बन्धों, सर्वोत्तम मानसिक, भावनात्मक और भौतिक आदतों के लिए अभ्यस्त करना और अपनी तत्त्वगत प्रकृति के मौलिक आवेगों का समुचित क्रिया में अनुसरण करना। मनुष्य जिस चीज की सराहना करता है और जिसे स्वीकार करता है वही उसका अंश बन सकती है बाकि सब छद्मवेष में रहता है। वह जैसे घर और विद्यालय में नैतिक रूढि का पालन करता है, उसी तरह समाज के अनुशासन के अनुसार चलता है लेकिन अपने व्यक्तिगत जीवन में वह अपने मन के मुताबिक, अपने आवेगों के अनुसार चलने के लिए अपने आपको स्वच्छ मानता है।

नैतिक शिक्षा की अवहेलना करने से मानव जाति नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है, जैसा आज हम देख रहे हैं। पाश्चात्य मूल्य भारतीय नैतिक मूल्यों पर हावी हो रहे हैं। युवाओं में भ्रष्टाचार और अनैतिकता दृष्टिगोचर होती है। नैतिक अनुशासन के लिए प्राचीन भारतीय पद्धति को श्री अरविन्द उत्कृष्ट मानते थे। जिसमें गुरु अपने ज्ञान और अपनी पवित्रता के कारण शिष्य से निर्विवाद आज्ञापालन, पूर्ण सराहना, आदरपूर्ण अनुकरण पाता था।

इसके लिए आवश्यक है कि हर बच्चे को उसके स्वभाव में जो कुछ सर्वोत्तम है उसे विकसित करने के लिए क्रियात्मक अवसर और बौद्धिक प्रोत्साहन दिया जाए। उसके दुर्गुणों या बुराइयों के लिए उसके साथ अपराधी जैसा व्यवहार न करके संयम, त्याग और प्यार के साथ उससे पीछा छुड़ाने का प्रयास करना चाहिए।

धार्मिक शिक्षा :-

नैतिकता के सन्दर्भ में ही श्री अरविन्द धार्मिक शिक्षा के विषय में बात करते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार धर्म को मत के रूप में पढ़ने की अपेक्षा जीवन में उतारना चाहिए। क्योंकि धर्म में अनेक प्रकार की उपयोगी साधनाएँ होती है जैसे प्रार्थना, श्रद्धांजलि आदि। इन सबका आध्यात्मिक प्रगति में बहुत महत्त्व है। इसलिए प्रत्येक विद्यालय में धर्मो के सार तत्त्व, भगवान् के लिए, मानवजाति के लिए, देश के लिए, औरों के लिए, जीने के आदर्श को जरूर अपनाना चाहिए।

समकालिक और आनुक्रमिक शिक्षा :-

आधुनिक भारतीय शिक्षा पद्धति में एक सबसे बड़ी कमी है जो श्री अरविन्द ने अपने समय में अनुभव की थी, वह थी–विषयों को टुकड़ों में पढ़ाया जाना। इसका परिणाम यह निकलता है कि किसी भी विषय में समयानुसार दक्षता प्राप्त नहीं हो पाती है। जो विषय एक वर्ष में अच्छी तरह से सीखा जा सकता था उसे सीखने में सात-आठ वर्ष लग जाते हैं। हम आज कल के विद्यालयों में देखते हैं कि बच्चा एक साथ कई-कई विषय पढ़ता

है, यह आवश्यक नहीं है कि उसकी सभी विषयों में रुचि हो, दक्षता हो, लेकिन उसे यह सब पढ़ना पड़ता है। माता-पिता नहीं चाहते कि बच्चा एक विषय में बंध कर रह जाए वे उसे सर्वगुण सम्पन्न देखना चाहते हैं। बच्चे पर एक साथ कई विषयों का भार डालना चाहते हैं इस आशा से कि अगर वह डॉक्टर नहीं बन पाया तो इंजीनियर बन जाएगा। अगर वह न सही तो आर्टिस्ट या वकील या किसी कम्पनी में अकाऊंटेंट। यानि एक बच्चे में सभी संभावनाएँ खोजना, जो कि उसके अन्दर है कि नहीं। यह तो था माता-पिता का दृष्टिकोण। विद्यालय और शिक्षा समितियाँ आधुनिक पद्धति के बचाव में कहती हैं कि बच्चे एक ही विषय को पढ़कर जल्दी थक जाते हैं उन्हें लम्बे समय में एक विषय के साथ बांधा नहीं जा सकता। लेकिन श्री अरविन्द यह मानते हैं कि क्या पहले के बच्चों और आज के बच्चों में अन्तर है। प्राचीन पद्धति में एक या दो विषय खूब अच्छी तरह से पढ़ाये जाते थे, जब वे तैयार हो जाते थे, तो दूसरे विषय लिए जाते थे। निस्सन्देह यह पद्धति ज्यादा उपयुक्त थी, ज्यादा गहरी व उदात्त थी। इसलिए यह पद्धति ही उचित है कि चाहे एक विषय पढ़ाया जाय, लेकिन उसकी पूर्णता के साथ–

"मनुष्य की तरह बालक भी अगर उसे रस आ रहा हो तो अपने विषय को अधूरा छोड़ने की जगह उसे पूरा कर लेना ज्यादा पसन्द करेगा। पढ़ाने की सच्ची पद्धति है, विद्यार्थी को एक-एक पग-पग करके आगे बढ़ाना जो कुछ सामने आता जाए उसमें रस लेना और तल्लीन होना सिखाया जाए, यहाँ तक कि वह अपने पूरे विषय पर पूरा अधिकार पा ले।"[1]

सात-आठ वर्ष का बालक-यही वह कम से कम आयु है, जब नियमित विद्याध्ययन शुरु किया जाता है–यदि किसी विषय में रस ले, तो काफी एकाग्र हो सकता है क्योंकि रस ही एकाग्रता का आधार है। एकाग्रता तभी भंग होती है जब हम बच्चों के पाठ को अरुचिकर और अनाकर्षक बना देते हैं। वर्तमान की अस्वाभाविक शिक्षापद्धति के स्थान पर स्वाभाविक आत्म-शिक्षण की पद्धति आ जाए तो यह समस्या भी दूर हो जाएगी। क्योंकि बड़े तो क्या बच्चों को भी यह पसन्द नहीं है, कि जिस विषय में वे रुचि रखते हों, उसे बीच में ही छोड़ दें।

बच्चे की बौद्धिक व मानसिक विशालता बढ़ाने के लिए अनेक विषयों के अध्ययन की ओर नहीं, बल्कि एक ही विषय को विभिन्न दिशाओं से विचार करने की ओर ध्यान देना चाहिए। ऐसा करने से बालक व्यावहारिक रूप से उस विषय को समझ जाएगा।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विषय में दक्षता लाने के लिए अध्यापक को सबसे पहले माध्यम और उपकरणों की तरफ ध्यान देना चाहिए, जब तक ये पक्के न हो जाऐं तब तक चाहे हम नियमित रूप से विषय को पढ़ायें, यह समय और शक्ति की बर्बादी होगी। अंततः यह आवश्यक है कि उचित साधनों का जो बच्चे के मनोविज्ञान के आधार पर हों, उनका प्रयोग करके एक विषय को उसकी पूरी समग्रता के साथ पढ़ाया जाए, तो वह ज्यादा उपादेय सिद्ध होगा।

मातृभाषा शिक्षा का उचित माध्यम है और बच्चे को उस पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए, प्रायः हर बच्चे में कल्पना-शक्ति, शब्दों के लिए नैसर्गिक प्रवृत्ति, नाटकीय क्षमता, विचार आदि चीजें होती हैं इन्हें देश के साहित्य और इतिहास में रसपूर्ण तरीके से प्रस्तुत करना चाहिए। इस तरह नियमित अध्ययन शुरू करने में वह बहुत सी चीजें पूर्णतया अच्छी तरह सीख पाएगा।

अभ्यास से इन्द्रियों का विकास :-

ज्ञान का मुख्य माध्यम है हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ, इनकी सक्षमता पर ही ज्ञानार्जन का स्तर निर्भर करता है। जैसा इनका अभ्यास होगा वैसा ही ज्ञानार्जन होगा। श्री अरविन्द शिक्षा में इन्द्रियों के अभ्यास को पूर्ण महत्त्व प्रदान करते हैं। शिक्षक का पहला काम है कि वह बच्चे में इन इन्द्रियों के ठीक उपयोग की क्षमता को विकसित करें, उसे देखना चाहिए कि उपयोग न होने के कारण वे अविकसित या घायल न रह जायें। अध्यापक के निर्देशन में स्वयं बालक प्रशिक्षित करें और उनकी क्षमता के अनुसार अधिक से अधिक पूर्ण यथार्थता और संवदेन-शीलता को प्राप्त करें। इसके अतिरिक्त कर्मेन्द्रियों से जितनी सहायता प्राप्त हो सकती है, उसका पूरी तरह उपयोग करें।

कई बार इन इन्द्रियों का सही उपयोग नहीं हो पाता है। इसका कारण है कि हम पर्याप्त रूप से ध्यान या एकाग्रता के साथ अवलोकन नहीं करते, और कोई रूप, शब्द, गन्ध यहाँ तक की स्पर्श जैसी इन्द्रियां भी उचित कार्य नहीं कर पाती हैं। कई बार कुछ बच्चों को हम देखते हैं कि वे ध्यान से सुन नहीं रहे, या इधर उधर देख रहे हैं, यानि जिस कार्य को करना चाहिए वे उसे नहीं कर रहे हैं, ऐसी स्थिति में मुख्य कारण है कि उसका मन, ध्यान कहीं ओर है-श्री अरविन्द ऐसी स्थिति में, जब इन्द्रियां अपना कार्य नहीं कर रही हैं उसमें मन और बुद्धि को मुख्य कारण मानते हैं–

"निश्चय ही ग्रहण करने वाले यंत्र की यह तामसिक अकर्मण्यता बुद्धि की उपेक्षा के कारण आती है यानि इस कारण कि हम ठीक तरह से मन का उपयोग नहीं करते।"[1]

श्री अरविन्द शिक्षा का उद्देश्य ही यह मानते थे कि इसमें एकाग्रता, इन्द्रियों पर संयम करना सिखाया जाए, भारतीय योग, जिसका मूल भाव ही यह है कि मनुष्य कैसे इन्द्रियों पर नियंत्रण रखे, योग के यम-नियम के भेदों का अनुकरण मूलतः इन्द्रियों को नियंत्रित करना ही सिखाता है। इस योग पर ही श्री अरविन्द शिक्षा के भवन को स्थापित करते हैं, क्योंकि शिक्षा से अभिप्राय सिर्फ पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं है अपितु जीवन में कुछ सीखना, कुछ छोड़ना, कुछ परिष्कृत करना है। शिक्षा छात्रजीवन से सम्बन्धित है यही वह समय है जब बच्चों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का, संस्कारों का निर्माण होता है और ये सब तभी निर्मित हो पाते हैं जब बच्चे को मन, बुद्धि और इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना आ जाए, अन्यथा जीवन बेलगाम घोड़े की तरह इधर-उधर उद्देश्यहीन भटकता रहेगा। अतः शिक्षा में सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण है कि बच्चे को ऐसा अभ्यास करवाया जाए कि उसका सब कुछ उसकी बुद्धि के अधीन हो, तभी उसके कार्य में एकाग्रता आ सकेगी, वस्तुएँ चिरस्थायी रूप से स्मृति में रह पाएंगी।

मन और बुद्धि पर नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा एकाग्रता और स्मृति का स्तर गिर जाता है। इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं करती हैं। इसे सूक्ष्म परीक्षणों के द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि इन्द्रियों और स्मृति के उपयोग में लापरवाही के कारण अवलोकन की क्षमता का बहुत अधूरे ढंग से विकास हुआ है। बारह आदमियों को यह काम सौंपा कि वे दो घण्टे पहले देखी हुई किसी चीज का स्मृति के आधार पर वर्णन करें। हम देखेंगे कि उन सबके वर्णन एक-दूसरे से और वास्तविक घटना से बहुत भिन्न हैं।

इन्द्रियों का बुद्धि के अनुसार कार्य न करने में एकाग्रता का अभाव मुख्य कारण है। क्योंकि बुद्धि ही इन्द्रियों को दिशा-निर्देश देती है। कार्य के प्रति एकाग्रता प्रदान करती है। यह एकाग्रता ही स्मृति और वस्तुओं के यथार्थ रूप की पहचान में सहायक होती है और बच्चे में एकाग्रता तभी आएगी जब उसे उसकी रुचि के अनुसार कार्य करवाया जाए। यह एकाग्रता एक विषय के प्रति भी हो सकती है और अनेक के प्रति भी। यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि हम मन पर पूरा नियंत्रण रखें। इन्द्रियों की पूर्णता को पहचानें, यही मुख्य उद्देश्य है शिक्षा का और अध्यापक का–

"अध्यापक के पहले कामों में से एक है विचार के सहायकों के रूप में इन इन्द्रियों की पूर्णता की ओर पूरा ध्यान देना। हमें यह जानना चाहिए कि इन्द्रियों की यथार्थता और संवेदनशीलता में बाधा देने वाली चीजों को पहचानें, ताकि उन्हें दूर करने के लिए अच्छे से अच्छे कदम उठाये जा सके।"1

मानसिक क्षमताओं का प्रशिक्षण :-

मन की शिक्षा यानि मानसिक शिक्षा। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि यदि मन शिक्षित होगा तो बच्चे के विचार सुदृढ़ होंगे, उससे स्थिरता आती है, तर्क क्षमता का विकास होता है। सामयिक दृष्टि से भी बच्चों में मन की शिक्षा अत्यावश्यक है क्योंकि आज जो माता-पिता का ही मन स्थिर नहीं है कि वे बच्चे को क्या करवायें, वे थोड़ा-थोड़ा करके उसे हर दिशा में बाँट कर उसमें अस्थिरता उत्पन्न कर देते हैं। इसके अतिरिक्त बच्चों की मानसिक चंचलता तो जगजाहिर ही है। मन की एकाग्रता लाने के अनेक प्रयास करने पड़ते हैं, तब भी कई बार असफलता ही मिलती है। विचारों में विक्षिप्तता बच्चों की मानसिक उन्नति को सबसे अधिक बाधा पहुँचाती है लेकिन यह भी सत्य है कि मन को एकाग्र करने की क्षमता भी उसमें विद्यमान होती है। श्री अरविन्द इसी मानसिक क्षमता को विकसित करने के लिए मन की शिक्षा को महत्त्व देते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि धीरे-धीरे बच्चे में ध्यान एकाग्र करने की दिशा में प्रयास किया जाए। इसके लिए अनेक मनोवैज्ञानिक तरीके हैं जिनमें खेल और पुरस्कार सर्वाधिक उपादेय हैं। बच्चे से हम जो कुछ भी करवाना चाहते

हैं उसमें दिशा निर्देश न देखकर उसे खेल-खेल में करवाया जाय, उसमें उसकी रुचि को जगाया जाए, बच्चों को जो भी चीज रुचिकर लगती है वह उसे तुरन्त करने को तैयार हो जाता है। बच्चों में सीखने के प्रति प्रेम पैदा किया जाए। तभी वह पूरी रुचि, समग्रता के साथ उस कार्य को करेगा। बच्चे में निरीक्षण, स्मरण शक्ति को बढ़ावा देना चाहिए और ऐसे अवसर प्रदान करने चाहिएँ, जिससे उसमें इन गुणों का अधिकाधिक विकास हो। श्री अरविन्द के अनुसार–

"कोई चीज विद्यार्थी को याद करवाने के लिए बार-बार रटवानी नहीं चाहिए। यह स्मरण शक्ति को प्रशिक्षित करने का यान्त्रिक, बोझिल और नासमझी का तरीका है बच्चे के हाथ में एक जैसा ही परन्तु अलग फूल दिया जाए और उसे प्रोत्साहित किया जाए कि वह उसे वैसी ही सावधानी से देखे और उसकी समानताओं और भिन्नताओं पर ध्यान दे। अगर इस अभ्यास को दोहराया जाए तो स्वभावतः स्मरण-शक्ति प्रशिक्षित हो जाएगी, इतना ही नहीं, साम्य और वैषम्य देखने के मानसिक केन्द्र भी विकसित होंगे।"[1]

इस प्रकार कोई भी ऐसा विषय नहीं होगा जिसे मानसिक रूप से तैयार न किया जा सके। बच्चे की मानसिक प्रगति में एक अन्य बाधा आती है। बच्चों के विचारों में तारतम्यता का अभाव यानि उसमें विचारों की लगातार एक शृंखला नहीं बन पाती है। उसमें बीच बीच में अवरोध आ जाते हैं या वे विचार एक साथ कई दिशाओं में बँट जाते हैं, ऐसी स्थिति में सबसे महत्त्वपूर्ण है–उसके विचारों में एकाग्रता लाना। इसके लिए सर्वप्रथम जरूरी है मनोवैज्ञानिक विधि का प्रयोग। यानि हम जो कुछ भी बालक को सिखाना चाहते हैं, उसमें उसकी रुचि उत्पन्न करें, उसमें कार्य करने की लालसा उत्पन्न करें। इसके लिए चाहे खेल को अपनाना पड़े या पुरस्कार को क्योंकि बच्चे में हमने सीखने के प्रति चाह पैदा करनी है। यदि ऐसा कर पाए तो उसमें जीवन के हर मोड़ पर सफलता मिलेगी, क्योंकि सीखने के प्रति रुचि ही सभी परिस्थितियों, जीवन की सभी घटनाओं से सीखने के प्रति प्रेरित करेगी और आगे बढ़ाएगी। क्योंकि हर बच्चे में सीखने का गुण विद्यमान होता है चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो–

"हर बच्चा मजेदार आख्यानों का प्रेमी, वीर-पूजक और देश-प्रेमी होता है। उसके अन्दर इन गुणों के लिए आकर्षण पैदा करो और उनके द्वारा उसके जाने बिना उसे उसके राष्ट्र के इतिहास के जीवन्त तथा मानव अंशों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने दो। प्रत्येक बालक जाँच-पड़ताल करने वाला, खोज करने वाला विश्लेषण करने वाला, निर्दय चीर-फाड करने वाला, शरीर शास्त्री होता है उसके अन्दर एक न बुझने वाली बौद्धिक उत्सुकता और तत्त्वज्ञान की खोज के लिए प्रवृत्ति होती है। इन चीजों का उपयोग करके उसे धीरे-धीरे जगत् को और अपने आपको समझने की ओर खींचो। हर बालक में नकल करने की प्रतिभा और कल्पनात्मक शक्ति का स्पर्श होता है इन चीजों का उपयोग करके उसे कलाकार की क्षमता की आधार-भूमि दो।"[1]

मानसिक शिक्षा में श्री अरविन्द एक अन्य चीज को महत्त्वपूर्ण मानते हैं और वह है अवलोकन यानि वस्तु पर ध्यान देना वह भी सरसरी तौर पर नहीं पूर्ण गहराई के साथ। अगर ध्यान की एकाग्रता होगी तो कुछ भी याद करवाया जा सकता है। बच्चे की स्मृति को एक आधार मिल जाता है। इसके लिए उन्होंने फूल का बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है–

"हम एक फूल का उदाहरण दे सकते हैं। उस पर एक सरसरी नजर डालने की जगह गंध, रूप और रंग का एक आकस्मिक संस्कार लेने की जगह उसे फूल को जानने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए–उसे अपने मन में ठीक-ठीक छटा, विशेष चमक, गन्ध की यथार्थ तीव्रता, रूप में रेखा और आकार के सौन्दर्य को बिठा लेना चाहिए। उस पर स्पर्श, उसकी बनावट और विशेषता का विश्वास दिलायें। उसके बाद फूल के अंग प्रत्यंग को अलग करके उसकी बनावट का अध्ययन, अवलोकन भी उसी सावधानी के साथ किया जाए। यह सारा एक कठिन कार्य के रूप में नहीं बल्कि रुचिकर विषय के रूप में किया जाए। सीखने वाले की क्षमता के अनुसार बुद्धिमत्ता से व्यवस्थित प्रश्न किये जाएँ, जो उसे एक-एक चीज का अवलोकन करने, उसके बारे में खोज करने के लिए प्रेरित करे, यहाँ तक कि वह लगभग बिना जाने ही सारे विषय पर अधिकार पा जाए।"[1]

बच्चे की मानसिक क्षमता को विकसित करने के लिए सभी तो नहीं लेकिन कुछ विषयों का पाठन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जैसे कि यथार्थ तर्क करने की क्षमता के लिए ज्यामिति, तर्कशास्त्र और राजनीतिक अर्थ-शास्त्र बड़े उपयोगी हैं। भाषाओं के अध्ययन से अभिव्यक्ति की शक्ति की परिष्कृति तथा इतिहास से बालक तुलना करने की शक्ति पाता है। बच्चे की मानसिक दृष्टि पुष्ट होने पर उसमें विषय के प्रति एकाग्रता बढ़ेगी, स्मरण शक्ति बढ़ेगी, वस्तुओं के प्रति उसके दृष्टिकोण में सूक्ष्मता आएगी। उसके परिणामस्वरूप उसमें तर्क शक्ति का भी विकास होगा। अगर बच्चे को छोटी अवस्था से तर्क बुद्धि का उपयोग करना सिखाया जाए तो वे जीवन में सफलता के सोपान पर आसानी से चढ़ सकेंगे–

"तर्कबुद्धि एक विशेष और सीमित उपयोगी, सहायक क्रिया है, जो अपने से किसी बहुत बड़ी चीज से निकलती है, एक ऐसी शक्ति से जो एक अधिक आलोकमय, विस्तृत, असीम आकाश में निवास करती है, जो तात्कालिक या मध्यवर्ती की तुलना में सत्य और निर्णायक है। हमारी अवलोकन, तर्क करने, खोज करने और निर्णय करने वाली बुद्धि का महत्त्व यह है कि वह मानव मन को ऊपर से आने वाले प्रकाश के समुचित ग्रहण और उसकी समुचित क्रिया के लिए तैयार करती है।"[2]

बच्चे को मानसिक रूप से सुदृढ़ करने के लिए यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि बच्चे की जिज्ञासा को शान्ति किया जाए। उसके द्वारा पूछे गए असंख्य प्रश्नों पर झुंझलाना नहीं चाहिए और न ही उसे मना करना चाहिए। अपितु उसके प्रश्नों का बड़ी ही बुद्धिमानी और स्पष्टता के साथ उत्तर देना चाहिए, ताकि उसमें एक स्वस्थ सुन्दर खोज की प्रवृत्ति जागृत हो सके। उसकी कल्पना शक्ति का विकास होगा। और कल्पना ही वह चीज है जो

सर्जनशील मानसिक वृत्ति को विकसित करती है तथा यही चीज है जो अध्ययन को एक सजीव वस्तु बना देती है। जिससे मन एक आनन्द के साथ विकसित होता है।

मानसिक शिक्षा में श्री अरविन्द एक अन्य कार्य और महत्त्वपूर्ण मानते हैं और वह है विचारों में समन्वय। क्योंकि जैसे जैसे बच्चा बड़ा होगा उसका मन भी परिपक्व होता जाएगा और भावनाओं और विचारों को ग्रहण करने में अधिक सक्षम व परिपक्व हो जाएगा। उसके मस्तिष्क में अनेक विचार और भावनाएँ एकत्र हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन्हें व्यवस्थित और क्रमबद्ध करने की कला सिखायी जाए। इसके लिए उसमें समन्वय के दृष्टिकोण को उत्पन्न करना अत्यावश्यक है। इस मानसिक समन्वय की केन्द्रीय भावना को चुनने में बहुत सावधानी रखनी चाहिए क्योंकि जितनी अधिक ऊँची और विशाल यह केन्द्रीय भावना होगी उतनी ही विचारों धारणाओं, भावनाओं को सुव्यवस्थित बनाने में समर्थ होगी।

अन्ततः एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अन्य भागों की तरह मन को भी विश्राम की आवश्यकता होती है और उसे यह विश्राम तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि हम यह न जान लें कि यह कैसे दिया जा सकता है। इसके लिए सबसे उत्तम है–मन के कार्य को बदलते रहना और उससे भी उत्तम है निश्चल–नीरवता की शान्ति में कुछ समय बिताना। क्योंकि यदि बच्चे से बार–बार एक ही कार्य या उससे लगातार कार्य करवाया जाए तो उसमें कार्य के प्रति अरुचि उत्पन्न होने लगती है। वह उसके प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करने लगता है। इसलिए यह सही है कि उसे बीच–बीच में खाली छोड़ा जाए, ताकि उसकी ऊर्जा बनी रहे। उसमें कार्य करने की रुचि, लालसा बनी रहे, यही कारण है कि आज की शिक्षा में कुछ जगह इन सब बातों का ध्यान भी रखा जाता है। टाईम टेबल बनाते समय या अन्य कार्य करवाते समय उसकी दिनचर्या में अन्तर किया जाता है।

सन्दर्भसूची–

1. शिक्षा के आयाम, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी, 1986 (पृ. 25)
2. अग्निशिखा (पत्रिका–3.1), सम्पादिका–अनुबेन, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी, 2006, (पृ.6)
3. वही, पृ. 6
4. वही, पृ. 7
5. वही, पृ. 8
6. वही, पृ. 11
7. वही, पृ. 12
8. वही, पृ. 21
9. वही, पृ. 10
10. वही, पृ. 11
11. नयी शिक्षा, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी, 1981, (पृ. 56).
12. अग्निशिखा, पृ. 31
13. शिक्षा के आयाम, पृ. 17
14. नयी शिक्षा, पृ. 38
15. वही, पृ. 51
16. वही, पृ. 37
17. वही, पृ. 42

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (65-86) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

मन्त्र और उसकी अवधारणा तथा मानव शरीर से सम्बन्ध

–डॉ. कैलाश नाथ तिवारी

हर्ष नगर इटावा, (उ.प्र.) भारत

(प्रस्तुत शोध निबन्ध में व्यक्त विचारों से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है, तथापि शोध की दृष्टि से यह निबन्ध सुतरां विचारणीय है–सम्पा.)

मन्त्र का सम्बन्ध मानव जीवन के साथ सभ्यता के आदि काल से चला आ रहा है। आधुनिक विकास वादी सिद्वान्त के अनुयायी विद्वानों के अनुसार प्रागैतिहासिक काल में जब समाज में भौतिक एवं यांत्रिक संसाधनों का अभाव था, उस समय मनुष्य के अपने शारीरिक कष्टों, व्याधियों तथा विविध दु:खों के निवारणार्थ विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों तथा देवी देवताओं की प्रार्थनाएं ही साधन थीं। कालान्तर में जैसे जैसे सभ्यता का विकास होता गया प्रार्थनाएं विविध मन्त्रों में परिवर्तित होती गयी और उनमें एक दैवी भावना का विकास हुआ। शनै: शनै: मन्त्रों के स्वरूप तथा प्रयोगादि भी परिष्कृत होते गये। आज का पूर्ण विकसित सभ्य समाज हो अथवा अर्द्धसभ्य एवं अविकसित कहा जाने वाला गिरिवासी, वनवासी, या आदिवासी समाज परन्तु मन्त्र का उनके जीवन से कहीं न कहीं सम्बन्ध अवश्य है। आज भी भौतिक जगत् में जब सभी संसाधन निष्फल हो जाते हैं तब केवल प्रार्थना ही एक मात्र आश्रय होती है। आधुनिक अत्युन्नत चिकित्सा विज्ञान के होते हुये भी रोग, कष्ट या पीडा की असाध्यता की स्थिति में बड़े बड़े नास्तिक चिकित्सा विज्ञानियों को भी ईश्वर की शरण या मन्त्र अथवा प्रार्थना की सलाह देते हुए देखा जा सकता है।

भारतीय परम्परागत आर्ष मान्यता के अनुसार विश्व के आदि साहित्य 'वेद' का संहिता भाग 'मन्त्र' नाम से ही जाना जाता है। जिसके बारे में विश्वास किया जाता है कि यह सृष्टि के प्रादुर्भाव के साथ ही प्रकट हुआ जो नित्य और अपौरुषेय है। ऋषियों ने उसका दर्शन किया। इसे दैवी वाक् भी कहा गया। जिसका एक अंश भी भली प्रकार जानकर सम्यक् रूप से प्रयोग करने पर इस लोक तथा परलोक की सभी कामनाओं की सिद्धि करता है। विश्व के अन्य सम्प्रदायों के आदि ग्रन्थों के विषय में भी लगभग यही स्थिति है। चाहे ईसाइयों की बाइबिल हो या मुसलमानों की कुरान अथवा पारसियों की जिन्दा वेस्ता ये सभी किताबें आसमानी कही जाती हैं जो उनकी मान्यता के अनुसार उन उन सम्प्रदायों के प्रवर्तकों पर उतरीं या जिन्होंने उनको प्राप्त किया।

मन्त्रों के प्रति इसी अलौकिक शक्ति सम्पन्नता तथा दिव्यत्वभाव के कारण ही विविध कष्टों, व्याधियों तथा पीड़ाओं के निवारणार्थ अथवा सब प्रकार की लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति के लिए मन्त्रों का श्रद्धा पूर्वक प्रयोग किया जाता रहा है।

अब प्रश्न उठता है कि मन्त्र क्या है तथा उसका इस भौतिक जगत् और भौतिक शरीर से क्या सम्बन्ध है?

मन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। मत्रिगुप्त भाषणे धातु से अच् प्रत्यय होकर मन्त्र शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है गुप्त भाषण। अन्य विद्वान् मनु-अवबोधने तथा त्रैड्रक्षणे धातुओं से मन्त्र शब्द सिद्ध करते हैं जिसका अर्थ होता है कि जिसका मनन किया जाय वह मन्त्र अथवा मननात् त्रयते यस्मात तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः अर्थात् जो मनन करने से रक्षा करे वह मन्त्र अथवा मन्तारं त्रायते इति मन्त्रः अर्थात् जो मनन करने वाले व्यक्ति की रक्षा करे वह मन्त्र कहलाता है । इन तीनों ही व्युत्पत्तियों में कहीं भी अन्तर्विरोध नहीं हैं। वस्तुतः मन्त्र वह गुप्त भाषण ही है जो मनन करने से कर्ता की रक्षा करता है। कोशकारों ने इस शब्द के अनेक अर्थ किए हैं:- **शब्द स्तोम महानिधि** के अनुसार मन्त्र "गुप्त भाषणे रहसि कर्त्तव्यावधारणार्थमुक्तौ, देवादीनां साधनार्थ तन्त्राद्युक्ते शब्द भेदे वेद विभाग भेदे च" लिखा गया है। **हलायुध कोशकार** ने आर्ष एवं लौकिक संस्कृत साहित्य से विविध सन्दर्भ उद्धृत करते हुये इन उपर्युक्त अर्थो के अतिरिक्त परामर्श, मन्त्रणादि अर्थ बताते हुये मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः यथा ज्वरादि नाशकः मन्त्रः लिख कर रोग, पीडा, व्याधि आदि के नाशार्थ किए जाने वाले तन्त्रोक्त उपायों में प्रयुक्त होने वाले निश्चित क्रम युक्त शब्द समूहों को भी मन्त्र माना है।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि मन्त्र ऋषियों द्वारा देखे गये अथवा प्राप्त किये गये सुपरीक्षित ऐसे अक्षरों शब्दों किं वा क्रमबद्ध शब्द समूहों को कहते हैं जिनके चिन्तन, मनन, साधन, स्फोट-नाद आदि प्रयोगों द्वारा साधक सभी प्रकार के कष्टों से मुक्ति पा सकता है । मन्त्रों के सम्यक् प्रयोग से धन सम्पत्ति, आरोग्य, ऐश्वर्य, ब्रह्मवर्चस् आदि सभी अभीष्ट इच्छाओं की सिद्धि सम्भव हो सकती है तथा भौतिक एवं पारमार्थिक जगत् की दृष्टि से अलभ्य भी सुलभ हो सकता है। सामान्य रूप से मन्त्र छंदोबद्ध तथा छंद मुक्त गद्य वा पद्य अथवा एकाक्षर या अनेकाक्षर सभी रूपों में पाए जाते हैं।

वैदिक मन्त्र वे छंदोबद्ध रचनाऐं हैं जिनका एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि, एक निर्धारित छंद तथा एक निश्चित देवता होता है । एक निर्धारित स्वर मात्रा तथा लय से ही उनका उच्चारण किया जाता है। पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्रों में भी ऋषि छन्द तथा देवता का विधान होता है परन्तु उच्चारण में स्वर, मात्रा, बलाघात की कठोर अनिवार्यता नहीं होती है। तान्त्रिक मन्त्रों में बीज, शक्ति तथा कीलक विशेष रूप से पाए जाते हैं। जब कि साबर मन्त्रों में ऋषि छंद तथा देवता आदि का कोई विधान नही होता है।

मन्त्र के स्वरूप के विषय में विद्वानों में अनेक मत हैं-प्राचीन परम्परागत विद्वानों के

अनुसार वेदमन्त्र अपौरुषेय एवं नित्य हैं उनको परमात्मा का निःश्वास माना गया है। पूर्वमीमांसक जैमिनी के अनुसार वेदमन्त्र अपौरुषेय एवं नित्य हैं किन्तु ईश्वर उनका कर्ता नहीं है।[2] दूसरी ओर आधुनिक परंपरा के विद्वान् वेद मन्त्रों को तत्-तत् मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा प्रणीत मानते हैं।

वैदिकों का एक सम्प्रदाय 'मन्त्र' को देवता का वाङ्मय-शब्दमय विग्रह मानता है। मन्त्रोच्चारण का तात्पर्य है शब्द स्फोट द्वारा देवता को मूर्त बनाया जाना यथा निर्दिष्ट क्रमानुसार आनुपूर्वी शब्दों का विहित या शास्त्रोक्त हस्व, दीर्घ, प्लुत मात्राओं और उदात्तानुदात्त और स्वरित स्वरों से युक्त उच्चारण से मन्त्र देवता का प्रादुर्भाव होता है।[3] वैदिक मन्त्रों में शब्द व्यत्यय अथवा स्वर व्यत्यय मात्र से ही वह स्वरूप अपूर्ण किं वा खण्डित हो जाता है तथा जिस अभीष्ट अर्थ के लिए मन्त्र प्रयुक्त किया गया था उसका प्रतिपादन न करके उल्टा (प्रत्यवाय होकर) अभीष्ट का नाश कर देता है। इस विषय में महाभाष्य की एक उक्ति प्रचलित है:- दुष्ट शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।। अर्थात् वेद मन्त्र का अशुद्ध उच्चारित शब्द चाहे वर्ण अथवा स्वर के व्यत्यय से मिथ्या प्रयुक्त हुआ हो तो वह मन्त्र के प्रोक्त अर्थ को प्रकट नहीं करता, वह तो वाग् वज्र के समान है जो यजमान का विनाश कर डालता है जैसे इन्द्रशत्रु वृत्रासुर (आद्य इन्द्र पद उदात्त होने से) स्वर व्यत्यय (अशुद्धि) के अपराध से मारा गया था।[4]

पूर्वमीमांसकों के मत में अनुष्ठान में समवेत द्रव्य देवता, क्रिया आदि पदार्थों का स्मरण कराने वाले वाक्यों को मन्त्र कहा गया है। जहाँ इन दृष्ट पदार्थों का स्मरण नहीं होता है मन्त्र वहॉ पर अदृष्ट फलोत्पादक होते हैं।[5] यहां विधिवत् मन्त्रोच्चारण पूर्वक अनुष्ठित यज्ञादि कर्म ही अनुष्ठाता को स्वयं फल प्रदान करता है। कर्म और फलदातृत्व के मध्य ईश्वरादि कोई माध्यम नहीं होता है।

कतिपय विद्वान् मन्त्रों को अनर्थक मानते हैं तथा कुछ सार्थक। निरुक्तकार यास्क ने दोनों ही पक्षों को प्रस्तुत किया है। पूर्व पक्ष में 'अनर्थकाहिमन्त्राः' अर्थात् मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता है प्रस्तुत करके उत्तर पक्ष में 'अर्थवन्तः शब्द सामान्यात्' अर्थात् मन्त्र अर्थवाले होते हैं क्योंकि सामान्य रूप से शब्दों का अर्थ होता है लिख कर मन्त्रों का सार्थकत्व प्रतिपादित किया है।[6]

एक अन्य आर्ष परम्परा में मन्त्र ही देवता माना जाता है अर्थात् मन्त्र और देवता में अभेद या अभिन्नता है दूसरे शब्दों में वाच्य वाचक रूप भेद का अभाव होता है। भारतीय संस्कृति के आदि मन्त्र 'ॐकार' को ही प्रश्नोपनिषद् 'पर' और 'अपरब्रह्म' कहता है। जबकि माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार 'ॐकार' यह ऐसा अक्षर है कि सम्पूर्ण जगत् उसकी महिमा का लक्ष्य कराने वाला है। सम्पूर्ण काल व कालातीत 'ॐकार' ही है।[7] इस प्रकार के सभी सन्दर्भ 'ॐकार'रूपी नाद ब्रह्म का ही वर्णन करते हैं। जब कि योग दर्शन में

'मन्त्र' और मन्त्र के देवता में वाचक और वाच्य भाव माना गया है। योग सूत्र के अनुसार प्रणव अर्थात् 'ॐकार' उस पुरुष विशेष-ईश्वर का वाचक है। उस ईश्वर के वाचक 'प्रणव' अर्थात् 'ॐकार' के जप के साथ तद्वाच्य ईश्वर की भावना या ध्यान करना आवश्यक है।[8]

वैदिक परम्परा के अन्य सम्प्रदायों पौराणिक स्मार्त तथा आगमादि में मन्त्र देवता का शब्दमय विग्रह वा देवता का स्वरूप तो है ही.[9] साधक की प्रार्थना या साध्य के प्रति साधक का आत्मनिवेदन भी है। समस्त स्तोत्र साहित्य तथा नमस्कारादि या कामना प्रार्थना परक मन्त्र इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।[10] शब्दमय विग्रह का अधिष्ठाता कोई चेतन देवता तत्व भी होता है। जो उस मन्त्र का सम्यक् रूप से पुरश्चरणादिसाधन एवं प्रयोगादि करने पर प्रसन्न होकर साधक को अभीष्ट सिद्धि प्रदान कर इच्छाऐं पूरी करता है। इसके अतिरिक्त विविध आगम मन्त्रों में तो प्रत्येक वर्णाक्षर का एक अधिष्ठाता चेतन देवता होता है। उसका एक निश्चित तत्व, वर्ण-रंग गुण, कर्म तथा स्वभाव होता है ये सभी वर्णाक्षर मातृका कहलाते हैं। ये वर्णाक्षर पूर्वापर क्रम से सम्यक् रूप से प्रस्तुत-उच्चारित या साधित किए जाने पर स्वयं अंगभूत होकर अपने अंगी देवता का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। जैसे प्रकाश के विविध रंग एक निश्चित क्रम से प्रस्तुत होकर सूर्य के प्रकाश का निर्माण करते हैं। उसी प्रकार विविध वर्णाक्षर एक क्रम से प्रस्तुत होकर एक देवता और उसके मन्त्र को अभिव्यक्त करते हैं। यदि इन वर्णाक्षरों के क्रम में विपर्यय या कोई परिवर्तन कर दिया जाय तो वही मन्त्र किसी अन्य देवता के स्वरूप का प्रतिपादक होकर पहले से भिन्न प्रभाव भी उत्पन्न कर सकता है।

साबर मन्त्र में प्रत्येक शब्द का कोई स्वतंत्र अर्थ होना आवश्यक नहीं होता है परन्तु उनमें शब्दों की आनुपूर्वी प्रस्तुति ही मन्त्राधिष्ठातृ चैतन्य देवता को प्रभावित कर अभीष्ट कार्य की सिद्धि करती है।

यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि तंत्र व योगशास्त्र में मन्त्र का स्वरूप किसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए मन प्रेरित वायु के आघात से कण्ठ तालु आदि विशेष स्थानों से मात्र उच्चरित होने वाला सामान्य शब्द नहीं है। अपितु मूलाधार स्थित कुण्डलिनी ही मन्त्र वाक् की कारणभूत शक्ति है जिसमें अव्यक्त मन्त्रवाक् सबसे पहले स्पन्दित होती है। इस वाक् को परा कहते हैं। पुनः यही वाक् जब नाभि देश में आती है तो इसे पश्यन्ती कहते हैं। योग युक्त चित्त से इसका दर्शन किया जा सकता है। इससे ऊपर हृदय देश में आने पर यह मन्त्रवाक् मध्यमा हो जाती है। यहां शब्द और अर्थ रूप से विचार या बुद्धि में व्यक्त होती हुयी यह वाक् कण्ठ देश में पहुंच कर वायु के आघात से वर्णाक्षरमय मन्त्र के रूप में संसार में प्रकट होती है।[11] इससे स्पष्ट है कि समस्त मन्त्र वाक् कुण्डलिनी के ही सार तत्व का विकास है।

मन्त्रों के भेद :- मन्त्र विद्या अत्यन्त विस्तृत तथा विपुल है, उसको विद्वानों ने अनेक प्रकार से वर्गीकृत करने का प्रयास किया है।

मन्त्र में प्रयुक्त वर्णाक्षरों की संख्या के आधार पर मन्त्रों को प्रमुख रूप से तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है।[12]

1. **बीजमन्त्र**–उनको कहते हैं जिन में एक से लेकर नौ अक्षर तक होते हैं। वैदिक परम्परा में प्राप्त ॐतथा 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' आदि व्याहृतियां इसी श्रेणी में आती हैं। तान्त्रिक–आगम परम्परा में इनका विशेष विकास हुआ। सभी वर्णाक्षर मातृकाएं इसी श्रेणी में समाहृत हुयीं और उनको एकाक्षरी बीज की संज्ञा दी गयी। कतिपय विद्वान् एकाक्षरी मन्त्र को 'पिन्ड', द्व्यक्षरी मन्त्र को 'कर्तरी' तथा तीन से नौ अक्षरों के मन्त्र को बीज मन्त्र मानते हैं। (इस प्रकार इनके मत से वर्णों की संख्या के आधार पर पांच भेद हो जाते हैं)[13]
2. **मन्त्र**–दश से लेकर बीस वर्णाक्षरों तक के मन्त्र सामान्य रूप से मन्त्र कहलाते हैं ये मन्त्र तान्त्रिक एवं पौराणिक दोनों ही हो सकते हैं। यथा: 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' आदि।
3. **माला मन्त्र**–बीस वर्णाक्षरों से अधिक वर्णाक्षरों वाले मन्त्र माला मन्त्र कहलाते हैं यथा गायत्री मन्त्र, अन्य पौराणिक श्लोक, तान्त्रिक–आगमोक्त विविध मन्त्र, श्लोक, प्रार्थनाएं आदि इसी श्रेणी में समाहित की जा सकती हैं।

मन्त्रों का एक वर्गीकरण लिंग भेद के आधार पर भी किया जाता है।[14]

1. पुल्लिंग मन्त्रों के अन्त में 'वषट्' अथवा 'फट्' लगा होता है। ये मन्त्र विशेषकर वशीकरण अथवा उच्चाटन आदि कर्मो में प्रयुक्त होते हैं।
2. स्त्रीलिंग मन्त्रों के अन्त में 'वौषट्' अथवा 'स्वाहा' लगा होता है तथा ये मन्त्र विशेष कर शान्ति व पुष्टि कर्मों में प्रयुक्त होते हैं।
3. नपुंसकलिंगी मन्त्र वे होते हैं जिनके अन्त में 'हुं' अथवा 'नमः' लगा होता है। ये मन्त्र विद्वेषणादि अभिचारों अथवा पूजादि में प्रयुक्त होते हैं।

इसी प्रकार तंत्र ग्रन्थों में मन्त्रों के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र भेद भी किए गये हैं। सौत्रामणि तंत्र में कहा गया है–मायाबीजं ब्राह्मणः स्यात् श्री बीजं क्षत्रियः स्मृतः। काम बीजं भवेद् वैश्यो वाग्भवं शूद्र ईरितम।। चतुर्मन्त्र परित्यक्तो मन्त्रः पौरस्त्य संज्ञकः। यहां यह उल्लेखनीय है कि ये वर्गीकरण प्रायः आगमोक्त मन्त्रों में ही विशेष रूप से प्रवृत्त होते हैं।

वर्गीकरण के कुछ अन्य आधारों में मन्त्रों को देवताओं (यथा शिव, विष्णु, गणेश, भैरव, देवी, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, अप्सरा तथा पिशाचादि) और कर्मों (यथा–साधना, आराधना, स्वर्गादि की प्राप्ति, विविध भौतिक सुखों की प्राप्ति, मारण, मोहन, वशीकरणादि अभिचार कर्म, सिद्धि–कर्म, संस्कार, शान्ति पुष्टि एवं चिकित्सादि कर्म) के आधार पर अनेक वर्गो में विभाजित किया जा सकता है।

यदि समग्र मन्त्र वाङ्मय का सम्प्रदाय एवं परम्परा के आधार पर विश्लेषण करके

वर्गीकृत करने का प्रयास किया जाय तो सर्व प्रथम उसे दो भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं। प्रथम तो वह मन्त्र वाङ्मय है जिसका उद्भव भारतवर्ष या उसे जुड़े हुए प्रदेशों-क्षेत्रों में हुआ और उसकी निरन्तर बढ़ती हुयी परम्परा में अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए। दूसरा वह मन्त्र साहित्य है जिसका उद्भव भारत से इतर दूरस्थ देशों में हुआ और भारतीय परम्परा से भिन्न परम्पराओं में जिसके अनेकानेक सम्प्रदाय प्रवृत्त हुए। इसमें प्रमुख रूप से पारसियों का 'जेन्दावेस्ता', यहूदियों का 'तौरेत', मुसलमानों का 'कुरानशरीफ' तथा ईसाइयों की 'इंजील' या 'बाइविल' और उनकी परम्परा में विकसित मन्त्र शास्त्र और उसके विविध सम्प्रदाय आते हैं।

भारतीय मन्त्र वाङ्मय का कलेवर और उसकी परम्पराऐं इतनी विस्तृत हैं कि उसकी प्रत्येक शाखा स्वयं वट वृक्ष बन गयी है। आज अनेक अध्ययनों और अनुसंधानों के पश्चात् भी इसका बहुत बड़ा भाग अभी भी अज्ञान के अन्धकार में है। मन्त्रशास्त्र से सम्बन्धित कई परम्परागत ग्रन्थ या तो नष्ट हो गये या अब वे दुर्लभ और दुष्प्राप्य है अथवा अनेक सिद्ध साधकों द्वारा सत्पात्र का अभाव मान कर अगली पीढ़ी को दिए ही नहीं गये। फिर भी उपलब्ध मन्त्र विद्या को सुविधा की दृष्टि से निम्न प्रकार विभाजित कर सकते हैं।

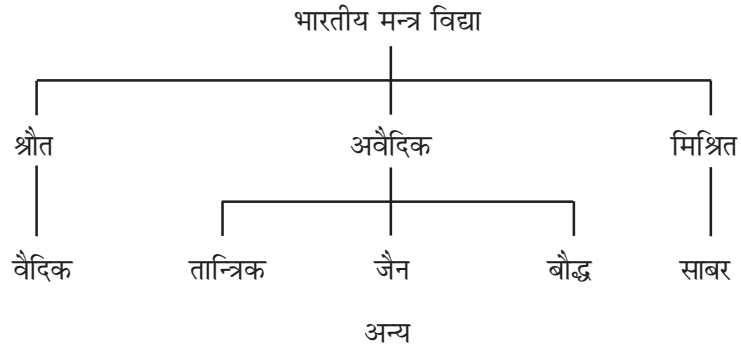

वैदिक परम्परा में संहिता-मन्त्र भाग एवं ब्राह्मण भाग मुख्यतया आता है तथा वैदिक मन्त्र ही उपनिषदों तथा विविध सूत्र ग्रन्थों में भी संगृहीत किए गये हैं इनमें उदात्तादि स्वर, ह्रस्वादि मात्रा तथा बालाघात आदि का प्राधान्य होता है। पुराण एवं तदनुवर्ती साहित्य भी वैदिक परम्परा में ही आता है। पौराणिक मन्त्र प्रायः नमस्कारात्मक तथा गुण कर्मावबोधक श्लोक प्रार्थना आदि रूप में पाये जाते हैं। वैदिक संहिताओं की भांति इनमें स्वरादि का प्राधान्य नहीं होता है। इनका विविध काम्य कर्मों में विनियोग भी होता है। विशाल स्तोत्र साहित्य भी इसी में समाहित किया जा सकता है।

तान्त्रिक परम्परा में प्राप्त 'आगम', 'यामल', 'डामर' या अन्यतन्त्र ग्रन्थों में प्राप्त मन्त्र भी प्राचीन काल से गुरु मुख से दीक्षित शिष्य को ही दिये जाते रहे हैं, इसलिए श्रौत परम्परा में ही इनका ग्रहण किया जाता है। "श्रुतिश्च द्विधा वैदिकी तान्त्रिकी च" यह उक्ति विद्वानों में बहुत प्रचलित है। इसके अतिरिक्त वाराही तंत्र के अनुसार पूर्वोक्त आगमादि का वेद

के षडंगों में से 'कल्प' के अन्तर्गत समावेश हो जाता है।[15] ये मन्त्र प्रायः व्यञ्जन प्रधान होते हैं इनमें सम्प्रदायानुसार अनुस्वारादि का वैशिष्ट्य होता है। वेद की भांति उदात्तादि स्वर वैशिष्ट्य नहीं होता है। इन यामल तथा आगामादि के भी अनेक अवान्तर सम्प्रदाय यथाशैव, वैष्णव, शाक्त, सौर गाणपत्य आदि हो जाते हैं। इन तांत्रिक मन्त्रों में प्रायः बीजमन्त्र, मन्त्र तथा मालामन्त्रों का ही प्राधान्य होता है साथ ही अनेक सिद्ध स्तोत्र मन्त्र भी पाये जाते हैं। इन मन्त्रों में ऋषि, छन्द तथा देवता के साथ बीज, शक्ति एवं कीलक भी पाये जाते हैं।

तांत्रिक मन्त्रों को ग्रहण करने के पूर्व साधक और मन्त्र के सम्बन्ध का विचार करना चाहिए जैसे विवाहादि सम्बन्ध हेतु नाडी भकूट आदि का ज्यौतिषशास्त्र के अनुसार विचार किया जाता है इसी प्रकार मन्त्रशास्त्र के अनुसार ग्रहण किया जाने वाला मन्त्र साधक के लिए मित्र, शत्रु, उदासीन, सिद्ध, साध्य तथा सुसिद्ध आदि में क्या है, इसका निर्णय करना आवश्यक है। इसके लिए कुलाकुलशोधन, राशिचक्र, ताराचक्र, गणचक्र, योनिचक्र, अकथहचक्र, अकडमचक्र, मन्त्रांशकचक्र तथा ऋण-धनशोधनचक्र आदि का विचार किया जाता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि कई बड़े देवताओं के मन्त्रों के लिए यह सिद्धादि का शोधन आवश्यक नहीं माना जाता है।[16]

तंत्रशास्त्रीय मान्यता के अनुसार इन मन्त्रों के छिन्न, रुद्ध, कीलित, स्तम्भित, सुप्त मत्त, मूर्छित, हीनवीर्य, दग्ध, त्रस्त, शत्रुपक्ष में स्थित, बाल, वृद्ध, गर्वित, युवा, निर्वीर्य, सत्वरहित, खण्डित तथा अंगहीन आदि पचास दोष होते हैं जिससे कभी कभी साधक को मन्त्र की सिद्धि नहीं होती है।[17] इसके लिए मन्त्रों के दस संस्कार-जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन तथा गोपन किए जाते हैं। शारदा तिलक, पिंगल तन्त्र तथा गौतमीय तंत्रादि में इन पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।[18]

एक परम्परागत मान्यता के अनुसार इन तांत्रिक मन्त्रों की प्रत्यक्ष एवं सद्यः कृतकृत्यता देख कर इनका दुरुपयोग रोकने के लिए भगवान् शंकर ने इन मन्त्रों को कीलित कर दिया[19] तथा अन्यान्य देवताओं और महर्षियों ने भी शाप देकर इनको कुण्ठित कर दिया है।[20] अतः इनका शापोद्धार एवं निष्कीलन आवश्यक होता है तभी मन्त्र की सिद्धि होती है। शिव और पार्वती के संवाद से प्रकट हुए इन तांत्रिक मन्त्रों तथा स्तोत्रों को प्रायः शिव मुखोद्गीर्ण माना जाता है और इनको आगम कहा जाता है।[21] ये सभी तांत्रिक मन्त्र विविध देवताओं की साधना, सिद्धि, पारलौकिक तथा ऐहिक अभ्युदय के साथ ही विविध काम्य कर्मों के लिए भी प्रयुक्त होते हैं।

अवैदिक परम्परा में जैन और बौद्ध सम्प्रदाय प्रमुख रूप से आते हैं। इनके सम्प्रदाय प्रवर्तक ग्रन्थों के अतिरिक्त इनकी परम्परा में विकसित विशाल मन्त्र वाङ्मय प्राप्त होता है। जैन साहित्य में नमस्कार मन्त्रकल्प, प्रतिष्ठाकल्प, चक्रेश्वरीकल्प, ज्वालामालिनीकल्प, पद्मावतीकल्प, सूरिमन्त्रकल्प, वागवादिनीकल्प, श्रीविद्याकल्प, वर्द्धमानविद्याकल्प तथा रोगापहारिणीकल्प आदि अनेक कल्पग्रन्थ विद्यमान हैं। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य में

ताराकल्प, वसुधाराकल्प, घण्टाकर्ण कल्प आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।[22] अवैदिक परम्परा होते हुए भी इन सम्प्रदायों की मन्त्र विद्या का पौराणिक एवं तान्त्रिक परम्परा से पर्याप्त साम्य दिखाई देता ह्रै। कहीं कहीं कुछ मन्त्रों के देवता तो पौराणिक एवं तान्त्रिक देवताओं जैसे ही हैं, अन्य स्वतंत्र देवी देवताओं से सम्बन्धित मन्त्र भी प्रयुक्त हुए हैं।

मन्त्रशास्त्र की साधना के लिए परम्परा से केरल, काश्मीर तथा गौड सम्प्रदाय प्रचलित हैं वेद और उसकी परम्परा में विकसित आगम व पौराणिक साधनाऐं तीनों सम्प्रदायों में प्राप्त होती हैं। जबकि बौद्धों में गौड़ सम्प्रदाय तथा जैनियों में कश्मीर सम्प्रदाय विशेष रूप से प्रचलित हैं।[23] जैन व बौद्ध सम्प्रदाय के मन्त्रशास्त्रों की भाषा में संस्कृत के साथ पाली व प्राकृत का भी प्रयोग मिलता है। तांत्रिक बीज मन्त्र दोनों में ही प्राप्त होते हैं। इन सम्प्रदायों में उपासना तथा साधना के अतिरिक्त विविध लौकिक-काम्य कर्मों से सम्बन्धित मन्त्रों का भी निर्देश मिलता है। इन सम्प्रदायों की परम्परा में अनेक शाखा प्रशाखाएं विकसित हुयी और वे भी स्वयं में एक उप सम्प्रदाय बन चुकी हैं। यथा अकेले बौद्ध सम्प्रदाय में ही हीनयान, महायान, वज्रयान, कालचक्रयान, मन्त्रयान तथा सहजयान उपसम्प्रदाय या शाखाएं हैं।

मिश्रित वर्ग के अन्तर्गत संगृहीत मन्त्रों में विविध साबर मन्त्र आते हैं। 'साबर' शब्द संस्कृत भाषा के 'शबर' से बना है जिसका अर्थ होता है- पहाडी, जंगल में रहने वाले अर्द्धसभ्य भील आदि जातियों के लोग तथा किरात वेष धारण करने के कारण शिव को भी शबर कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि साबर मन्त्र प्रायः शंकर जी द्वारा बनाये गये तथा प्रारम्भ में अर्द्धसभ्य, भील, गिरिवासी, वनवासी जातियों में प्रचलित मन्त्र थे। आज तो सभ्य समाज के लोग भी इनका प्रयोग करते हैं। विश्वास किया जाता है कि ये आसानी से सिद्ध हो जाते हैं तथा प्रयोग करने पर तुरन्त निश्चित फल देते हैं।[24] इन मन्त्रों की भाषा प्रायः अटपटी होती है कहीं कहीं तो गाली गलौज के शब्द भी देखने को मिलते हैं इन मन्त्रों में भाषा दृष्टि से हिन्दी, संस्कृत तथा उर्दू आदि भाषाओं के तत्सम और तद्भव शब्द मिले जुले रहते हैं। देवताओं की दृष्टि से साबर मन्त्र पौराणिक एवं तान्त्रिक परम्परा के देवी, देवताओं, सिद्ध गुरूओं, महात्माओं, भैरव, बेताल, पिशाच, प्रेत, मसान, क्षेत्रीय व स्थानीयवीरों (यथा जाहर वीर गोगावीर आदि), सती या ग्राम्य देवताओं, इस्लामादि सम्प्रदायों में उत्पन्न हुए विविध पैगम्बरों, पीरों एवं फकीरों आदि से सम्बन्धित प्राप्त होते हैं। कई कई मन्त्रों में एक से अधिक देवताओं का भी उल्लेख आता है। साबर मन्त्रों का एक बहुत बडा भाग गुरु गोरखनाथ और उनकी परम्परा से सम्बन्धित है। इन मन्त्रो में अभीष्ट कार्य को करने की प्रार्थना के साथ प्रायः उपर्युक्त देवताओं, सिद्धों, तथा गुरुओं अदि की दुहाई, आन या शपथ, दी जाती है।

साबर मन्त्र प्रायः विविध देवी, देवताओं की सिद्धि-साधन, काम्य षट् कर्म, लौकिक उन्नति, स्त्री, धन, पुत्र व वैभव आदि की प्राप्ति तथा विविध चिकित्सा आदि कर्मों से सम्बन्धित होते है।

मन्त्रों की प्राचीन परम्परा मौखिक रूप से ही गुरु के द्वारा शिष्य के कान में (मन्त्र) देने की रही है। अत: मन्त्र विद्या का उपलब्ध लिखित वाङ्मय समग्र के एक अंश को ही अभिव्यक्त करता है। भारत तथा उससे जुडे हुए अनेक प्रदेशों में क्षेत्रीय स्तर पर इनके स्वरूपों का विस्तार असीमित है। अत: यह सम्भव है कि इस मन्त्र विद्या के अनेक स्वरूप आज भी अज्ञात एवं अस्पृष्ट हों जिनको पूर्वोक्त वर्गीकरण में कहीं समायोजित नहीं किया जा सकता है। उन सब मन्त्रों को इस अन्य वर्ग में वर्गीकृत किया जा सकता है।

भारतीय दर्शन में समस्त सृष्टि का आदि कारण ब्रह्म माना गया है।[25] वही इसको उत्पन्न करके उसमें प्रविष्ट हो गया।[26] आर्ष परम्परा में शब्द को ब्रह्म मानते हुए स्पष्ट कहा गया है कि "शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात: परब्रह्माधिगच्छति" अर्थात् 'शब्दब्रह्म' में सिद्ध पुरुष ही परब्रह्म को प्राप्त करता है। 'मन्त्र' देवता का स्वरूप वा शब्दमय विग्रह है। उपनिषदों में 'ॐकार' को 'पर' और 'अपर' ब्रह्म कहा गयाहै।[27] यह अक्षर ब्रह्म 'ॐकार' ही सब कुछ है। यह जो कुछ भी भूत, वर्तमान व भविष्यत् (जगत्) है उसी की व्याख्या अर्थात् उसका कार्यस्वरूप है। इससे अतिरिक्त जो कुछ त्रिकालातीत है वह भी 'ॐकार' ही है।[28] तैत्तिरीयोपनिषद् व छान्दोग्योपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह ओ३म् ही ब्रह्म (कारण) है, ओ३म् ही यह सब कुछ अर्थात् दृश्यादृश्य त्रैकालिक सृष्टि रूपी कार्य है।[29] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन स्थलों पर 'ॐकार' से किसी अव्यक्त या मन वाणी से अगम या अगोचर अकल्पनीय सत्ता का वर्णन नहीं है। अपितु अकार,, उकार तथा मकार इन मात्राओं से युक्त त्रिपाद व्यक्त 'ॐकार'रूपी नाद ब्रह्म का वर्णन ही अभिप्रेत है क्यों कि माण्डूक्योपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह आत्मा अक्षर दृष्टि से ओंकार है। वह मात्राओं को विषय करके स्थित है। पाद ही मात्रा है और मात्रा ही पाद है। वे मात्रा अकार उकार और मकार हैं।[30] इससे सिद्ध होता है कि यह मन्त्र स्वरूप 'ॐकार' ही समग्र सृष्टि का कारण है।

प्रकृति सिद्ध नित्य 'शब्द-ब्रह्म' वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक्, विराट्, गौ आदि नामों से भी वर्णित किया गया है।[31] वाक् भी ब्रह्म की भांति ही चतुष्पाद् है जिसके तीन पाद गूढ (अव्यक्त) है और एक पाद ही प्रकट (व्यक्त) है।[32] प्रकृति सिद्ध नित्य वाक् ही इस सृष्टि को उत्पन्न कर तथा स्वयं ही उसमें व्याप्त होकर, उसका धारण एवं संचालन कर रही है।[33] ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि वाग् ही ब्रह्म है, वही इस समस्त जगत को धारण करती है।[34] शतपथ ब्राह्मण कहता है कि वाग् ही विश्वकर्मा ऋषि: (अर्थात् संसार को बनाने वाली) है और वाणी ने ही यह सब सृष्टि की है।[35] तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार वाणी ही समस्त भुवनों में व्याप्त होकर उनको धारण किए हुए है।[36] यह सब जो कुछ भी नाम रूपात्मक है, वाणी का ही विकार है।[37] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि यह सम्पूर्ण विश्व उस प्रकृति सिद्ध नित्य वाक् तत्त्व से प्रादुर्भूत शब्द प्रपंच से व्याप्त है और शब्द (मन्त्र) ब्रह्म ही इस नाम रूपात्मक सृष्टि को उत्पन्न करके, उसमें अनुस्यूत होकर उसे गतिशील कर रहा है।

यदि पाञ्चभौतिक स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति के विषय में विचार करें तो भी यह सम्पूर्ण जगत् वाक् (शब्द) से उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। सांख्य तथा वेदान्त दोनो ही दर्शन इस दृश्यमान जगत् के कारणभूत पांच महाभूतों–आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी को तन्मात्राओं से ही उत्पन्न मानते हैं सांख्य दर्शन इनको यदि तन्मात्रा कहता है[38] तो वेदान्त दर्शन इनको अपंचीकृत सूक्ष्म भूत की संज्ञा से अभिव्यक्त करता है।[39] इनमें सबसे प्रथम शब्द तन्मात्रा है जिससे आकाश उत्पन्न होता है दूसरी स्पर्श तन्मात्रा से वायु, रूप तन्मात्रा से अग्नि, रस तन्मात्रा से जल तथा गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ये तन्मात्राएं एक दूसरे से संयुक्त होकर ही सूक्ष्म व स्थूल पंच महाभूतों का निर्माण करती हैं। 'सांख्यकारिका' के टीकाकार वाचस्पतिमिश्र के शब्दों में 'तत्र शब्दतन्मात्रादकाशंशब्दगुणं शब्दतन्मात्रसहितात्स्पर्शतन्मात्राद्वायुःशब्दस्पर्शगुणः, शब्दस्पर्शतन्मात्र सहितात्रूपतन्मात्रात्तेजःशब्दस्पर्शरूपगुणः, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापःशब्दस्पर्श रूप रस गुणाः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्राच्छब्द स्पर्शरूपरसगन्धगुणाः पृथिवी जायते इत्यर्थः।'[40] भाष्यकार माठर ने भी 'शब्दादिभ्यः पंचभ्यः आकाशादीनि पंचमहाभूतानि पूर्वपूर्वानुप्रवेशादेकद्वित्रिचतुष्पंच गुणानि उत्पद्यन्ते' लिखकर इसका समर्थन किया है।[41] वेदान्त दर्शन में भी श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'आकाशस्यशब्दो गुणः। वायोस्तुशब्द स्पर्शौ। तेजस्तु शब्दस्पर्शरूपाणि। अपां तुशब्दस्पर्शरूपरसाः। पृथिव्यास्तुशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः।' लिखकर उपर्युक्त का ही समर्थन किया है।[42] वेदान्त दर्शन तो इससे एक चरण आगे बढ़कर सूक्ष्म भूतों मे पंचीकरण प्रक्रिया द्वारा स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति वर्णित करता है। जिसके अनुसार प्रत्येक महाभूत में अर्धांशं में उस महाभूत का प्राधान्य रहता है तथा अवशिष्ट अर्धांश में शेष चारों महाभूत समान अंशों में रहते हैं।[43] उदाहरण के लिये पृथिवी में 1/ 2 भाग पृथिवी + 1/ 8 जल + 1/ 8 तेज + 1/ 8 वायु + 1/ 8 आकाश विद्यमान है। इन पंचीकृत पंच महाभूतों से ही पृथिव्यादि लोक और उनमें स्थित चतुर्विध स्थूल शरीर तथा उनके पोषणार्थ अन्नपानादिक उत्पन्न होता है।[44] तैत्तिरीयोपनिषद् भी आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न तथा अन्न से पुरुष अर्थात् जीवधारियों की उत्पत्ति का स्पष्ट निर्देश करके इसका समर्थन करता है।[45]

तंत्र शास्त्र के अनुसार शब्द रूप वाक् के स्वर और व्यञ्जन भेद से सैंतीस (अ, इ, उ, एवं ॅ रूप मूल चार स्वर कवर्गादि के पच्चीस वर्ण तथा य, र, ल, व, श, ष, स और ह कुल योग 37) प्रभेद होते हैं। इन सैंतीस प्रभेदों से सृष्टि के छत्तीस तत्त्व बनते हैं।[46] शैवागम के अनुसार शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्या, माया, काल, नियति, कला, अविद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्राएं तथा पंच महाभूत मिलकर छत्तीस तत्त्व होते हैं।[47] यहां यह उल्लेखनीय है कि वैष्णवागम में सृष्टि में केवल बत्तीस तत्त्व तथा सौरागम में (सांख्यशास्त्रोक्त) पच्चीस तत्व ही माने गये हैं।[48] इससे सिद्ध होता है कि प्रकृति सिद्ध नित्य वाक् सूक्ष्म एवं स्थूल सृष्टि

का कारण तो है ही इस स्थूल दृश्यमान पंच भौतिक जगत् को उत्पन्न करके इसमें सब प्रकार से अनुस्यूत भी है।

इस स्थूल सृष्टि के उद्भव एवं विकास के साथ साथ (ॐ कार स्वरूप) नाद ब्रह्म से शब्द वाक् का भी विकास हुआ। इस शब्द सृष्टि के उद्भव क्रम पर प्रकाश डालते हुए अग्नि पुराण में कहा गया है- सबसे पहले ॐकार स्वर से विभूषित शक्ति प्रकट हुयी तत्पश्चात् (ं) बिन्दु एकार रूप में परिणित हुआ। इसी ओंकार में पुनः शब्द पैदा हुआ जिससे उकार का उद्गम हुआ। यह उकार हृदय में शब्द करता हुआ विद्यमान रहता है। अर्द्धचन्द्र (ँ) से मोक्ष मार्ग को बताने वाले इकार का प्रादुर्भाव हुआ। तदनन्तर भोग और मोक्ष प्रदान करने वाला अव्यक्त अकार उत्पन्न हुआ।[49] इस प्रकार ओ, ए, उ, इ तथा अ पांच स्वरों की उत्पत्ति हुई। इन स्वरों के परस्पर सम्मिलन से अन्य स्वर उत्पन्न हए।[50] ये स्वर ही समस्त सृष्टि के आधार हैं। इसी वर्ण सृष्टि क्रम को विस्तार से बताते हुए शारदा तिलक में कहा गया है कि तार - ॐकार के पाँच भेदों : अ, उ, म, बिन्दु एवं नाद से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव द्वारा पचास वर्णवाली कलाएं उत्पन्न हुईं। अकार से ब्रह्मा द्वारा क वर्ग तथा च वर्ग की कलाऐं उत्पन्न हुयीं, उकार से विष्णु द्वारा ट वर्ग तथा त वर्ग की कलाऐं उत्पन्न हुईं मकार से रुद्र द्वारा प वर्ग एवं य वर्ग की कलाऐं उत्पन्न हुई बिन्दु से ईश्वर द्वारा श वर्ग श ष स ह क्ष कलाऐं उत्पन्न हुईं नाद से सदाशिव द्वारा सोलह स्वरात्मक कलाऐं उत्पन्न हुयीं। ये पचास कलाएं सर्व समृद्धियों को देने वाली कही गयी हैं।[51] इनको मातृका भी कहा गया है। इन मातृका वर्णों के भेद से ही समस्त मन्त्र उत्पन्न होते हैं। शक्ति संगम में कहा गया है कि प्रत्येक मातृका वर्ण विश्व की उत्पत्ति में तत्पर किसी न किसी विद्या-शक्ति से ही उत्पन्न हुआ है।[52]

इस प्रकार इस प्रकृति सिद्ध नित्य शब्द से अभिव्यक्त सम्पूर्ण शब्द राशि को महर्षियों ने स्वर और व्यंजन दो भागों में विभक्त किया है। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः ये सोलह स्वर हैं। यही स्वर सौर वाक् या सावित्र्यग्नि है इसे बृहती वाक् भी कहा गया है। स्वरोऽअक्षरम् के अनुसार स्वर 'अक्षर' अर्थात् अविनाशी, स्वयं प्रादूर्भूत तथा नित्य हैं।[53] स्वर वाक् ही ह्रस्व, दीर्घ,, प्लुत मात्रओं तथा उदात्तानुदात्त एवं स्वरितादि स्वर भेद से अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो जाती है।

क वर्ग- क, ख, ग, घ, ङ; च वर्ग- च, छ, ज, झ, ञ; ट वर्ग- ट, ठ, ड, ढ, ण; त वर्ग- त, थ, द, ध, न; प वर्ग - प, फ, ब, भ, म; य वर्ग- य, र, ल, व तथा श वर्ग-श, स, ष, ह, क्ष रूप चौतीस वर्ण वाक् हैं। इनको व्यंजन या क्षर अर्थात् विनाश शील तथा निष्क्रिय कहा गया है। यही पार्थिव वाक् या गायत्र्यग्नि है, इसे अनुष्टुप् वाक् भी कहते हैं। यह पार्थिव वाक् स्वयं निर्गम नहीं अपितु सौर वाक् से ही आई है।[54]

एक अन्य मान्यता के अनुसार भगवान् महेश्वर ने अपना नृत्य समाप्त होने के पश्चात् (सृष्टि के आदि में) जब अपना डमरु चौदह बार बजाया, उससे समस्त स्वर व व्यंजन प्रकट हुए। जो चौदह माहेश्वर सूत्रों के नाम से व्याकरणशास्त्र में प्राप्त होते हैं।[55] शिक्षा

नामक वेदांग में येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्यं महेश्वरात् कह-कह इसी मान्यता का समर्थन किया गया है।[56] माहेश्वर सूत्रों को देखने से प्रतीत होता है कि पहले समस्त स्वर प्रकट हुए पश्चात् समस्त व्यंजन, क्योंकि माहेश्वर सूत्रों के प्रथम चार सूत्रों में समस्त स्वरों का कथन है तथा पश्चात् के पांच से लेकर चौदह तक के सूत्रों में समस्त व्यंजनों का परिगणन किया गया है।

जिस प्रकार अर्थ सृष्टि में भौतिक 'क्षर' कूट की प्रतिष्ठा 'अक्षर' तत्व है उसी प्रकार अर्थ ब्रह्म की समान धारा में प्रवाहित होने वाले शब्द ब्रह्म में 'क्षर' रूप 'वर्ण' की प्रतिष्ठा अक्षर रूप 'स्वर' तत्व ही है।[57] इसीलिए व्यंजन को बोलने के लिए स्वर का आश्रय लेना पड़ता है।[58] ये व्यंजन ही स्वरों के आश्रय से समस्त नाम रूपात्मक सृष्टि को अभिव्यञ्जित-लक्षित या प्रकट करते हैं। इसी भाव को अभिव्यक्त करे हुए मातृका हृदय में कहा गया है कि वर्ण शिव कहे जाते हैं तथा षोडश स्वर शक्ति है बिना शक्ति के सूक्ष्म शिव का नाम धाम अर्थात् नाम रूपात्मक स्वरूप नहीं होता।[59]

तन्त्र, ज्योतिष एवं योगादिशास्त्रों से इन स्वरों और व्यञ्जनों का सम्बन्ध पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश से जोड़ा गया है। ज्योतिष शास्त्र में इसके अतिरिक्त सूर्यादि सात ग्रह इन के अधिपति भी बताए गये हैं।

आगमशास्त्र की परम्परा के ग्रन्थ वाराही संहिता में कहा गया है कि (भाषा रूपा) मातृकाएं पंचभूतों से प्रकट हुई हैं। अतः सभी वर्ण भूतात्मक हैं। पचास लिपि वर्ण पांच पांच के विभाग से वायु, अग्नि, पृथिवी, जल तथा आकाशात्मक हैं। जिनमें पांच ह्रस्व स्वर हैं, पांच दीर्घ, पांच सन्धियों से बनने वाले, चार तथा एक अं। इसी प्रकार पांच-पांच वर्ण वाले कवर्गादि य वर्ग तथा श् एवं ष् स् ह् क्ष् ल् इस प्रकार पचास वर्णात्मिका मातृकाऐं हुईं।[60] इसी को स्पष्ट करते हुये दक्षिणा मूर्ति संहिता में कहा गया है कि उ, ऊ, ओ, ग, ज, ड, द, ब, ल, ळ वर्ण पार्थिव ; ऋ, ॠ, औ घ, झ,, ढ, ध, भ, व, स वर्ण नीरज अर्थात् जलीय; इ, ई, ऐ, ख, छ, ठ, थ, फ, र, क्ष वर्ण आग्नेय ; अ, आ, ए, क, च, ट त, प, य, ष वर्ण वायव्य ; लृ, ॡ, अं, ङ, ञ, ण, न, म, श, ह वर्ण आकाश संज्ञक हैं।[61]

इसके अतिरिक्त तन्त्र शास्त्र में पृथिव्यादि तत्त्वों के गुण व वर्ण सहित बीज मन्त्रों का भी वर्णन मिलता है। लं बीज-पृथिवी तत्त्व-गन्ध गुण-पीत वर्ण, वं बीज-जल तत्त्व-रस गुण-शुक्ल वर्ण, रं बीज-वह्नि तत्त्व-तेज गुण-रक्त वर्ण, यं बीज-वायु तत्त्व-स्पर्श गुण-कृष्ण वर्ण, हं बीज-आकाश तत्त्व-शब्द गुण-शुक्लोत्तर वर्ण बताया गया है।[62] अन्यत्र शरीर में इनकी स्थिति के स्मरण का संकेत करते हुए कहा गया है :-तत्र पादादि जानु पर्यन्तं लं पृथिवी बीजं, जान्वादि नाभि पर्यन्तं वं वरुण बीजं, नाभ्यादि कण्ठ पर्यन्तं रं अग्नि बीजं, कण्ठादि भ्रूमध्यान्तं यं वायु बीजं, भ्रूमध्यादि ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्तं हं आकाश बीजं एवं पंच भूतानि स्मरेत्।[63]

अग्नि पुराण में भी इन स्वरों व व्यंजनों का सम्बन्ध भूमि, जल, अग्नि, वायु एवं

आकाश रूप पंचमहाभूतों तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द रूप गुणों या तन्मात्राओं से जोड़ा गया है साथ ही मंगल, बुध, गुरु, शुक्र एवं शनि ग्रह इनके अधिपति बताए गये हैं।[64] नृपति जयचर्यार्णव में सूर्य और चन्द्र को क्रमशः 'अ' एवं 'इ' स्वरों के अधिपति मंगल तथा बुध के साथ और जोड़ दिया है। जब कि अग्नि पुराण में ही अन्यत्र इन पांच स्वर वर्गों के वर्णों के दो दो ग्रह अधिपति क्रमशः सूर्य-मंगल, बुध-चन्द्र, गुरु-शुक्र, शनि-मंगल तथा सूर्य-शनि वर्णित हैं।[65]

यहां यह उल्लेखनीय है कि वर्तमान ज्योतिषशास्त्र में जातक स्कन्ध के अन्तर्गत अवकहडा चक्र में विभिन्न वर्णाक्षरों का सम्बन्ध नक्षत्रों से है तथा नक्षत्रों से मिल कर राशियाँ बनती हैं।[66] अतः वर्णाक्षरों का राशियों से भी सम्बन्ध माना जाता है। सूर्यादि ग्रह भी राश्यधिप होने के कारण प्रकारान्तर से इन वर्णाक्षरों से सम्बन्धित माने जा सकते हैं। परन्तु यहां यह भी स्मरणीय है कि ज्यौतिष शास्त्र में सम्पूर्ण राशि चक्र पृथिवी, जल, वायु तथा अग्नि इन चार भूतात्मक तत्वों से सम्बन्ध माना गया है।[67]

जैसा कि पूर्व में सृष्टि प्रकरण में वर्णित किया जा चुका है कि यह सम्पूर्ण जगत् पांच महाभूतों से उत्पन्न होता है। इस जगत् के दो स्वरूप हैं। एक जड़ जिसे अचर कहते हैं जिसमें नदी, पर्वत, भूमि, ग्रह, लोक व नक्षत्र आदि आते हैं तथा दूसरा जंगम जिसे चर कहते हैं इसमें समस्त देहधारी जीव आते हैं। देह धारी जीव स्वेदज-कृमि, कीटादि; अण्डज-जलचर, सर्पादि व पक्षी पतंगादि एवं जरायुज इसमें विविध जन्तु-पशु व मनुष्यादि आते हैं।[68] यहां प्रसंगवश मनुष्य ही अभिप्रेत है अतः उसकी ही चर्चा यहाँ पर की जा रही है।

मनुष्य के भौतिक शरीर के किन-किन अवयवों, गुणों तथा कर्मों में किन-किन महाभूतों की अवस्थिति है इस पर प्रकाश डालते हुए 'श्री यामल' तथा 'अध्यात्म विवेक' में बताया गया है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश ये पांच महाभूत ही बाह्य एवं आभ्यन्तर अवयवों के निर्माण के लिए स्थिरता को प्राप्त हुए। अस्थि, चर्म, नाभि, लोम तथा मांस पृथिवी से; मल, मूत्र, श्लेष्मा, शुक्र तथा शोणित जल के प्राधान्य से; क्षुधा, तृषा, निद्रा, प्रमोह तथा कान्ति तेज द्वारा; दौड़ना-चलना, ऊपर उठना, संकुचित होना तथा फैलना अदि क्रियाऐं वायु से एवं राग, द्वेष, मोह, भय व लज्जा पांच गुण आकाश की व्यवस्थिति से होते हैं।[69] इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में घ्राण पृथिवी से, रसना जल से, चक्षु तेज से, त्वचा में स्पर्शेन्द्रिय वायु से तथा श्रोत्र आकाश से सम्बन्धित हैं। प्रसिद्ध चिकित्सा शास्त्री आचार्य चरक ने भी इसको स्वीकार किया है-चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना, स्पर्श पांच इन्द्रियाँ हैं तथा तेज, आकाश, पृथिवी, जल एवं वायु क्रम से इनके द्रव्य हैं। आंख, कान, नासिका, जिह्वा एवं त्वचा क्रम से इन इन्द्रियों के अधिष्ठान हैं।[70] चरक ने तो इन इन्द्रियों को पांच महाभूतों का विकार माना है। इनमें जो इन्द्रिय जिस महाभूत से बनी हुयी है उसी के स्वभाव वाली व विभु होने से उस महाभूत के गुण को ग्रहण करने वाली होती है।[71] अन्यत्र आचार्य चरक

ने पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा (इन छह धातुओं) के संयोग से गर्भ-शरीर के निर्माण को स्वीकार किया है।[72]

ये मानव शरीर केवल जड भूत पंच महाभूतों के द्वारा अपने आप ही बन गया ऐसा नहीं है। यद्यपि पंच महाभूत शरीर के कारण अवयव हैं परन्तु भारतीय ऋषियों की मान्यता इससे भी एक चरण आगे है जिसके अनुसार यह षाट्कौशिक स्थूलशरीर विविध देवताओं द्वारा अपने अपने अंशों से निर्मित किया गया है और सभी देवताओं का यह निवास भूत स्थान भी है। अथर्ववेद में जिज्ञासा की गयी है कि केश, अस्थि, स्नायु, मांस, मज्जा आदि को कौन लाया, हाथ पाँव से युक्तशरीर को किसने बनाया। जंघा, पाँव, टखना, शिर, हाथ, मुँह, पीठ आदि किसने जोड़े, किसने इसमें रंग भर दिया।[73] उत्तर दिया गया कि संसिच नाम के देवताओं ने उपर्युक्त सामग्रियाँ एकत्र की और सम्पूर्ण मानव देह को रक्त से सींचकर ये देवता पुरुष के शरीर में प्रविष्ट हो गये।[74] संसिच देवताओं से सायण ने ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं अथवा प्राणापानादि देवताओं का अभिप्राय ग्रहण किया है।[75] आगे कहा गया है कि महान् संधानकर्त्री देवता ने शिर, हस्त, मुख, ग्रीवादि को परस्पर जोड़ कर अपने अपने कार्य व्यापार में सक्षम कर दिया।[76] पारमेश्वरी माया शक्ति ने इस षाट् कौशिक शरीर में गौर पीतादि रंग भर दिया।[77] जगत् निर्माता त्वष्टा-ईश्वर ने पुरुष शरीर में चक्षु श्रोत्रादि विविध छिद्रों को तराशा तो प्राणापानादि व इन्द्रियों के अभिमानी देवता इस मरणधर्मा शरीर को गृह बनाकर पुरुष में प्रविष्ट हुए।[78] अस्थियों को समिधा बनाकर अष्ट आप (यहां रस, रक्त, मज्जा व वीर्यादि अष्ट धातुओं का ग्रहण करना चाहिए) प्रविष्ट हुए तथा वीर्य को आज्य बनाकर अग्न्यादि देवता (स्वशरीर वृद्धि व वंश वृद्धि हेतु) पुरुष में प्रविष्ट हुए।[79] सूर्य ने नेत्रेन्द्रिय, वायु ने प्राणेन्द्रिय तथा अन्यान्य देवताओं ने तद् तद् इन्द्रियाभिमानी देवताओं के रूप में पुरुष के शरीर को अपना वास बनाया। प्राणेन्द्रिय से भिन्न स्थूलशरीर अग्नि को प्रदान किया।[80] विविध आप्-रस, विविध देवता, विराट् ब्रह्म के साथ इस शरीर में प्रविष्ट होकर स्थित हुए और ब्रह्म ही प्रजापति के रूप में स्थित हुआ।[81] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि समस्त देवता इस शरीर में उसी प्रकार निवास करते हैं जैसे गोष्ठ में गायें।[82] इसी वर्णन को स्पष्ट करते हुये ऐतरेयोपनिषद् में कहा गया है कि अग्नि वाग्इन्द्रिय होकर मुख में, वायु प्राणेन्द्रिय होकर नासिका में, सूर्य चक्षुरिन्द्रिय होकर नेत्र गोलकों में, दिशाओं के अभिमानी देवता श्रोत्रेन्द्रिय रूप से कानों में, औषधियों और वनस्पतियों के अभिमानी देवता रोऐं लोम होकर त्वचा में, चन्द्रमा मन होकर हृदय में, मृत्यु अपान होकर नाभि में, जल के अभिमानी देवता रेतस्-वीर्य होकर लिंग में प्रविष्ट हो गये।[83] पुराणों में प्रत्यक्ष रूप से विविध देवताओं द्वारा शरीर-निर्माण में भागीदारी का वर्णन मिलता है। यथा मार्कण्डेय पुराण में विविध देवताओं के अंश से भगवती पराम्बा दुर्गा का विग्रह प्रकट होने का वर्णन है।[84] इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के विश्व रूप दर्शन अध्याय में विविध देवताओं की विराट् पुरुष के विविध अंगों में स्थिति वर्णित हैं।[85] सम्भवतः इन्हीं आधारों पर विभिन्न आगम ग्रन्थों में अण्ड पिण्ड का सिद्धान्त 'यथा अण्डे तथा पिण्डे' वर्णित करते हुए मानव शरीर में सम्पूर्ण

ब्रह्माण्ड की स्थिति की उद्भावना की गयी है।[86] यहाँ यह भी उल्लेख करना अनुचित न होगा कि तत्वों-महाभूतों द्वारा इस शरीर का निर्माण अथवा देवताओं द्वारा निर्माण इसमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि देवताओं का सम्बन्ध पंच महाभूतों से भी जोडा गया, ये देवता इनके अधिपति हैं। एक श्लोक में कहा गया है-आकाशस्यापिधो विष्णुरग्ने चैव महेश्वरी । वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः। अर्थात् आकाश के अधिपति विष्णु अग्नि की महेश्वरी वायु के सूर्य पृथिवी के शिव तथा जल के अधिपति गणेश हैं।[87] यहाँ विशेष महत्त्वपूर्ण यह है कि अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से अक्षर ऋचाओं को समस्त देवताओं का आश्रय कहा गया है।[88] आर्ष परम्परा में तो मन्त्रों का इतना अधिक महत्व है कि देवताओं को मन्त्रों के भी अधीन माना जाता है।

इस प्रकार इस पूर्वोक्त विवेचन से यह पूर्ण रूपेण सिद्ध हो जाता है कि वर्णाक्षर रूप मन्त्र-मातृकाऐं, देवता, पंचमहाभूत तथा यह षाट्कौशिक मानवशरीर सभी परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित या मिले हुये हैं किसी एक को प्रभावित करके समग्र को प्रभावित किया जा सकता है। इसीलिए वैदिक एवं तांत्रिक सभी साधनाओं में इन समस्त देवताओं एवं समस्त महाभूतात्मक तत्वों को इस शरीर में प्रतिष्ठित कर शक्ति तत्त्व को जागृत करने के लिए ही न्यासों का विधान किया जाता है।[89] प्रत्येक मन्त्र अथवा देवता के ऋषि, छन्द आदि की बहुलता से उनमें अनेकत्व होने से न्यासों की संख्या भी बहुत है। परन्तु तंत्र की सामान्य परम्परा में अन्तर्मातृका एवं बहिर्मातृका न्यास लगभग सबमें समान ही है। इन दोनों मातृकाओं को तन्त्र में क्रमशः परा और अपरा कहा गया है । इनमें सम्पूर्ण वर्णमालाक्षरों का तत्तत् अंगों में न्यास किया जाता है।[90]

अन्तर्मातृका न्यास-सुषुम्णा के अन्दर योगशास्त्रोक्त षट्चक्रों में प्रत्येक चक्र पर ध्यान पूर्वक प्राण को केन्द्रित करके निर्दिष्ट वर्णों का उनकी स्थिति के अनुसार प्रत्येक के प्रत्येक दल पर न्यास किया जाता है। इस न्यास के पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाने पर साधक को नाना प्रकार की सिद्धियाँ-शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसे अधोलिखित विवरण से समझा जा सकता है।[91]

चक्र का नाम व स्थान	दल	अधिपति देवता व शक्ति	सम्बन्धित ज्ञान/कर्मेन्द्रिय एवं वायु	भूतात्मक तत्त्व/बीज	मातृकावर्ण
मूलाधार चक्र (अण्डकोश व गुदा केमध्य)	चतुर्दल पद्म	स्वयं भू लिङ्ग एवं चतुर्भुज ब्रह्मा, डाकिनी	नासिका व गुदा अपान वायु	पृथिवी	लं वं शं षं सं
स्वाधिष्ठानचक्र (लिङ्ग मूल)	षड्दल पद्म	(वाल लिंग) एवं विष्णु एवं राकिनी	रसना व उपस्थ व्यान वायु	जल	वं बं भं मं यं रं लं
मणिपूर चक्र (नाभि मण्डल)	दशदल पद्म	रुद्र एवं लाकिनी	चक्षु व पैर समान वायु	अग्नि	रं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं

अनाहत चक्र (हृदय प्रदेश)	द्वादश दलपद्म	ईशान व त्रिनेत्र कामिनी	त्वचा व हाथ प्राण वायु	वायु	यं कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं
विशुद्धि चक्र (कण्ठ प्रदेश)	षोडश दलपद्म	पंचमुख सदाशिव व शाकिनी	श्रवण व वाग् उदान वायु	आकाश हं	अं आं इं ईं उं ऊं से अं अः पर्यन्त षोडश स्वर।
आज्ञा चक्र (भ्रू मध्य)	द्विदल	अर्धनारीश्वर शिव षडानना हाकिनी	मन व दिव्य महत्तत्व चक्षु या तृतीयनेत्र		ऊँ हं क्षं
सहस्रार (ब्रह्मरन्ध्र)	सहस्रदल पद्म	परमशिव (ब्रह्म) व तत्त्वातीत (:) षोडशी कला		अकारदि क्षकरान्त पचास मातृकाऐं (सम्पूर्ण वर्णाक्षर)	

बहिर्मातृका न्यास में शरीर के विविध अंगों का सम्बन्धित वर्णाक्षरों के उच्चारण पूर्वक स्पर्श किया जाता है। इस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों सन्धियों को मन्त्र युक्त करके चैतन्य जागृत किया जाता है। इसे अधोलिखित क्रम से समझा जा सकता है–

अं नमः ललाटे	आं नमः मुखे इसी प्रकार
इं दाहिने नेत्र में	ईं बाये नेत्र में
उं दाहिने कान में	ऊं बायें कान में
ऋं दाहिन नासा छिद्र में	ॠं बायें नासा छिद्र में
लृं दाहिने कपोल में	ॡं बाये गाल में
एं ऊपरी ओठ में	औं नीचे के ओठ में
ओं ऊपरी दंत पक्ति में	औं नीचे की दन्त पंक्ति में
अं मुख द्वार में	अः कण्ठ में
कं दाहिनी भुजा के मूल में	खं दाहिनी कोहनी
गं दाहिनी कलाई में	घं दाहिने हाथ की अंगुलियों के मूल भाग में
ड़ दाहिने हाथ की अंगुलियों के अग्रभाग में	चं बायीं भुजा के मूलभाग में
छं बायीं कोहनी में	जं बांयी कलाई में
झं बायें हाथ की अंगुलियों के मूल भाग में	अं बाये हाथ की अंगुलियों के अग्रभाग में
टं दाहिने पैर के मूल भाग में	ठं दाहिने घुटने में
डं दाहिने टखने में	ढं दाहिने पैर की अंगुलियों के मूल भाग में
णं दाहिने पैर की अगुलियों के अग्र भाग में	तं बायें पैर के मूल भाग में

थं बायें घुटने में	दं बायें टखने में
धं बायें पैर की अंगुलियों के मूल भाग में	नं बायें पैर की अंगुलियों के अग्रभाग में
पं दाहिने पार्श्व-बगल में	फं बायें पार्श्व में
बं पीठ में	भं नाभि में
मं जठर प्रदेश में	यं हृदय प्रदेश में
रं दाहिने कन्धे की हड्डी में	लं हंसुली में
वं बायें कन्धे में	शं हृदय से लेकर दाहिने हाथ के अन्त तक
षं हृदय से लेकर बायें हाथ के अन्त तक	सं हृदय से लेकर दाहिने पैर के अन्त तक
हं हृदय से लेकर बायें पैर के अन्त तक	लं मस्तक से पैरों तक
क्षं पैरों से शिर तक।	

इस प्रकार सामान्य रूप से मातृका न्यास होता है तंत्र परम्परा में सृष्टिक्रम, स्थितिक्रम, एवं संहार क्रम भेद से इनके अनेक रूप हो जाते है इन सभी का वर्णन यहां अनभिप्रेत है। विविध उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कामना भेद से इनमें विविध बीज मन्त्र जोडकर विविध प्रकार से इनका उच्चारण करते हुए न्यास किया जाता है।[92]

इसके अतिरिक्त वैदिक एवं तान्त्रिक परम्परा में ऋषि, छंद तथा देवता का न्यास क्रमशः सिर, मुख एवं हृदय प्रदेश में किया जाता है (तान्त्रिक ग्रन्थों में बीज शक्ति एवं कीलक का न्यास भी गुह्य, पाद एवं नाभि में किया जाता है) फिर मन्त्र के षड् भाग करके दोनों हाथों के अंगूठों, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठिका उंगलियों तथा दोनों हाथों एवं उनके पृष्ठ भागों में करते हैं इसको करन्यास कहते हैं इसी प्रकार इन्हीं मन्त्र के षड् भागों से हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रों में न्यास करते हुए दाहिने हाथ से चुटकी बजाकर चारों ओर हाथ घुमाते हुए हाथ पर ताली बजा कर न्यास करते हैं इसे हृदयादि न्यास कहते हैं यह न्यास वैदिक एवं तांत्रिक दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से प्रचलित है।

इस प्रकार इस समग्र विवेचन से यह सम्यक् रूप से सिद्ध हो जाता है कि मन्त्र वाक् का इस भौतिक जगत् तथा मानवादि जीवों के स्थूल व सूक्ष्म शरीरों से सीधा सम्बन्ध है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो मन्त्र वाक् रूपी ऊर्जा शक्ति अपने स्पन्दन से स्थूल भौतिक जगत् को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है। हमारे प्राचीन महर्षिगण इस वैज्ञानिक तथ्य से सम्यक् रूप से सुपरिचित थे। इसीलिए जीवन के विविध पक्षों में मन्त्र शक्ति के प्रयोग निर्दिष्ट किये गये हैं।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. हलायुध कोश "मन्त्र" पृ० 513 सम्पादक जयशंकर जोशी, हिन्दी समिति लखनऊ 1967।
2. मीमांसा सूत्र एवं शाबर भाष्य 1/1/27-32
3. 'मन्त्र दिग्दर्शन' में "मन्त्रों का महत्त्व" शीर्षक - सम्पादक पं० श्री कण्ठ शास्त्री, माधव प्रकाशन दिल्ली सम्वत् 2043 पृ० 9 व 10
4. देखिये निरुक्त 1/1/2 पर निरुक्त विवृत्तिः पाद टिप्पणी - पृ० 8 मेहरचन्द्र लक्ष्मन दास नई दिल्ली 1982।
5. देखिये मन्त्र विचार प्रकरण 61 व 66 अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, व्याख्याकार दयाशंकर शास्त्री, साहित्य भण्डार मेरठ, सम्वत् 2028।
6. निरुक्त, यास्ककृत 1/5/15-16
7. 'परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार' - प्रश्नोपनिषद् 5/2, 'सर्वमोङ्कार एव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव'- माण्डूक्योपनिषद्
8. 'तस्य वाचकः प्रणवः' तथा 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इन सूत्रों पर व्यास भाष्य 'वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य' एवं 'प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्' योग सूत्र 1/27 व 28 द्रष्टव्य
9. मन्त्रार्थं देवता रूपं चिन्तनं परमेश्वरि, मन्त्रात्मकस्यदेहस्य मन्त्र वाच्येन देवता ।
   वाच्यवाचक भावने अभेद मन्त्र देवयोः।। - यामल, आगमरहस्य, पृ० 178 पूर्वोक्त
10. यत्कामऋषिर्यस्यां देवतायामर्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुक्तेतद्दैवतः स मन्त्रो भवति- निरुक्त
11. आगम रहस्य, तृतीय पटल श्लोक188-192 तथा अथर्ववेद 9/10/27 एवं कुण्डलिनी तत्व मन्त्रार्थ विज्ञान तथा मन्त्र चैतन्य, लेखक पं० आद्याचरण झा, कल्याण उपासनांक, गीताप्रेस, गोरखपुर 1968, पृ० 481
12. विशेष विवरण हेतु देखिये प्रयोगसारतंत्र तथा नारायणीय तंत्र उद्धृत द्वारा सिंहसिद्धान्तसिन्धु भाग 1 सप्तम तरंग, पृ० 295
13. विशेष विवरण हेतु देखें, मन्त्र सिद्धि, लेखक देवकी नन्दन जी खण्डेलवाल पृ० 230 कल्याण गीता प्रेस गोरखपुर, वर्ष 42 संख्या सन 1968
14. कुल प्रकाशतंत्र तथा प्रयोगसारतंत्र उद्धृत द्वारा सिंहसिद्धान्तसिन्धु भाग1 सप्तम तरंग, पृ० 265 व 266 तथा शारदातिलक 2/58-59
15. कल्पश्चतुर्विधः प्रोक्तः आगमो डामरस्तथा। यामलश्च तथा तंत्रं तेषां भेदाः पृथक् पृथक्।। उद्धृत सांख्यायन तंत्रम्, सम्पादक गोस्वामि श्री लक्ष्मी नरायण दीक्षित, राजस्थान प्रा० विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर। 1970, पृ० 6
16. विस्तार हेतु देखें, आगम रहस्य, भाग 1 पटल 19 पृ० 284 से 300 तक (पूर्वोक्त)
17. सूची हेतु देखें, मन्त्र सिद्धि, लेखक देवकी नन्दन जी खण्डेलवाल, पृ० 230, कल्याण गीता प्रेस गोरखपुर वर्ष 42 संख्या सन् 1968
18. विशेष विवरण हेतु देखें, आगम रहस्य एकादश पटल में श्लोक 1615 से 1654 पृ० 146 से 150 तक तथा मन्त्रो के दस संस्कार लेखक श्री हरि राम जी शर्मा मार्तण्ड

विद्वच्चूडामणि, पृ0 232-233 कल्याण, गीता प्रेस गोरखपुर - वर्ष 15 संख्या। अगस्त 1940
19. 'इत्थं रूपेण कीलेन महादेवेन कीलितम् (8) कीलक स्तोत्र, दुर्गा सप्तशती, गीता प्रेस गोरखपुर
20. उदाहरण के लिए 'दुर्गा सप्तशती' में शापोद्धार तथा निष्कीलन के अनेक विधान दिए गये हैं। रुद्रयामल तंत्र के अन्तर्गत दुर्गाकल्प में प्रयुक्त चण्डिका शाप विमोचन मन्त्रों में ब्रह्म, वसिष्ठ तथा विश्वामित्र के शाप से विमुक्त होने की प्रार्थना है।
21. सांख्यायन तंत्र भूमिका पृ० 5 राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर, 1970 पूर्वोक्त
22. मन्त्र शास्त्र और उपासना, डा० गोपाल प्रसाद जी वंशी, पृ० 235 उपासनांक, कल्याण, गीता प्रेस गोरखपुर सन् 1968
23. वही, पृ० 236 गोरखपुर सन् 1968
24. कलि विलोकि जगहित हर गिरजा। साबर मन्त्र जाल जिन सिरजा। अनमिल आखर अर्थ न जापू। प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू।। राम चरित० बाल० दोहा 14 चौपाई 5 व 6
25. जन्माद्यस्य यतः - ब्रह्म सूत्र 1/1/2
26. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत, तै०आ० 8/6
27. प्रश्नोपनिषद् 5/2
28. माण्डूक्योपनिषद् -1
29. ओमिति ब्रह्म/ओमितीदं सर्वम्। तैत्तिरीयोपनिषद् 1/8/1 तथा छान्दोग्योपनिषद् 2/23/3 भी द्रष्टव्य है।
30. सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति। माण्डूक्योपनिषद् 8 तथा तैत्ति० 1/8/1 है। भगवद्गीता 8/16 आदि भी द्रष्टव्य हैं।
31. विराड् वाग् विराड् पृथिवी विराड् अन्तरिक्षं- अथर्व 9/10/24 गौरिन्मिमाय सलिलं - अथर्व 9/10/21, वाग्वै ब्रह्म - शतपथ 2/1/4/10
32. तुलनाकीजिये अथर्व 9/10/27 तथा 19/6/2-3 एवं माण्डूक्य 2 से 18 भी द्रष्टव्य
33. अथर्व 4/30 पर सायण भाष्य
34. ऐतरेय ब्राह्मण 6/3
35. वाग्वैविश्वकर्मा ऋषिः, वाचाहीदं सर्वम् कृतम् - शतपथ 8/1/2/9
36. वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता - तै०ब्रा० 2/8/8/4
37. वाचारम्भणविकारो नामधेयम् - छा०उ० 6/1
38. तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंच पंचभ्यः --- सांख्य कारिका-38
39. तत आकाशादीनि पंच भूतानि अपंचीकृतानि तन्मात्र पद प्रतिपद्यानि उत्पद्यन्ते - वेदान्त परिभाषा पृ० 334, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी 1977
40. सांख्य कारिका, ईश्वर कृष्ण कारिका 22 पर वाचस्पति मिश्र की टीका
41. सांख्य कारिका, ईश्वर कृष्ण कारिका 38 पर माठर भाष्य
42. वेदान्त परिभाषा, पृ० 334 व 335, चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी 1977
43. वेदान्तसार, सदानन्द योगीन्द्र कृत, पृ० 99 तथा वेदान्त परिभाषा, पृ० 339 भी देखिये।
44. वेदान्त सार - उपर्युक्त - 104 तथा वेदान्त परिभाषा पृ० 341 भी देखें

45. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1
46 स्वर व्यंजन भेदेन सप्तविंशत् प्रभेदिनी सप्तत्रिंशत् प्रभेदेन षट्त्रिंशत् तत्त्व रूपिणी - योगिनी हृदय
47. तत्त्वानि शैवान्युच्यन्ते शिवः शक्तिः सदाशिवः, ईश्वरो विद्यया सार्धं पंचशुद्धान्यमूनि हि । माया कालश्च नियतिः कला विद्या पुनः स्मृता, रागः पुरुष एतानि शुद्धाशुद्धानि सप्त च प्रकृति बुद्ध्यहंकारो मनो ज्ञानेन्द्रियाण्यथ, कर्मेन्द्रियाणि तन्मात्राः पंचभूतानि निदेशिकाः एतान्याहुरशुद्धानि चतुर्विंशतिरागमे, शैवानामणि तत्त्वानां विभागोऽयं प्रदर्शितः।।
शारदातिलक, उद्धृत आगम रहस्य श्लोक 88-92 पृ० 8-9 राजस्थान प्रा० विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर 1968
48. उपर्युक्त श्लोक 93-95
49. अग्निपुराण, अध्याय 124 श्लोक 7 से 10 द्रष्टव्य हैं।
50. अ + ए=ऐ, अ + ओ=औ -वृद्धिरेचि, अष्टा. 6/1/88 अ + अ=आ, इ + इ=ई, उ + उ=ऊ अकः सवर्णे दीर्घः, अष्टा० 6/1/101
51. विशेष विवरण हेतु देखें शारदा तिलक पटल, श्लोक 17 से 28 एवं 56 जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता 1884 ई० तथा द्वितीय मातृका हृदय उद्धृत द्वारा आचार्य सरयू प्रसाद द्विवेदी, आगम रहस्य पूर्वार्द्ध श्लोक 217 से 229 राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर 1968 पृ० 19-20
52. एकैकं मातृकावर्ण प्रतिविद्या सकाशतः। उत्पन्न परेमाशानी विश्वोत्पत्ति परायणा 195 आगम रहस्य उपर्युक्त पृ० 17
53. विशेष विवरण हेतु देखें, गोस्वामी लक्ष्मी नारायण दीक्षित, भूमिका, सांख्यायन तंत्रम् - राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर, 1970 पृ० 3
54. विशेष विवरण हेतु देखें, गोस्वामी लक्ष्मी नारायण दीक्षित, भूमिका, सांख्यायन तंत्रम् - राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर 1970 पृ० 3
55. नृत्यावसाने नटराजराजोननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्। उद्धर्तुकामः सनकादि सिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।
56. उद्धृत द्वारा पं० श्री नारायण दत्त त्रिपाठी व श्री राम नारायण दत्त शास्त्री, लघु सिद्धान्त कौमुदी, गीता प्रेस गोरखपुर सं० 2034 वि० पाद-टिप्पणी पृ० 14
57. तुलना कीजिये "हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः" माहेश्वर सूत्रों पर भट्टोजि दीक्षित कृत सूत्रवृत्ति से।
58. विशेष विवरण हेतु देखें सांख्यायन तन्त्रम्, भूमिका, सम्पा० गोस्वामि श्री लक्ष्मी नारायण दीक्षित राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर 1970, पृ० 2
59. वर्णाः शिवाः समाख्याताः स्वराः षोडश शक्तयः। शक्त्या बिना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते।। आगम रहस्य पूर्वार्द्ध 2/208 पूर्वोक्त
60. पुरश्चर्यार्णव, सम्पादक स्व० मुरलीधर झा, पृ० 57, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली 1986 (यद्यपि पूर्व में वर्ण वाक् से महाभूतों की उत्पत्ति कही गयी है परन्तु जब वर्ण स्थूल भाषा - मातृका रूप में प्रकाट होते हैं तो पंच भूतों से ही इसलिए यहाँ पंच भूतों को कारण कहा गया है तथा मातृकाओं को कार्य कहा गया है।

61. सिंहसिद्धान्त सिन्धु, पृ० 283 पूर्वोक्त
62. महाकपिल पंचरात्र उद्धृत, आगम रहस्य पूर्वार्द्ध 25/4266, पृ० 392
63. भूतशुद्धि- वगलामुखी रहस्यं, पीताम्बरा पीठ, दतिया, म० प्र०, पृ०-160
64. अग्निपुराण 124/8 से 11
65. अग्निपुराण 123/2
66. बृहज्ज्यौतिषसार, सम्पादक रूप नारायण शर्मा पृ० 41, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस राजादरवाजा वाराणसी तथा भारतीय ज्योतिष 108 नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली 1991
67. देखिये, राशियों का परिचय, भारतीय ज्योतिष पृ० 110 से 112 व 113 नेमिचन्द्र शास्त्री उपर्युक्त
68. आगमरहस्य, पृ० 20 व 21 पूर्वोक्त
69. आगमरहस्य, पृ० 26 व 27 पूर्वोक्त
70. तत्र चक्षुः श्रोत्र घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पंचेन्द्रियाणि। पंचेन्द्रिय द्रव्याणि एवं वायु ज्योतिरापो भूति। पंचेन्द्रियाधिष्ठानान्यक्षिणी कर्णौ नासिकेजिह्वात्वकचेति। चरक 1/8/5
71. तत्रानुमानगम्यानां पंचमहाभूत विकार समुदायात्मका नामणि सताभिन्द्रियाणां तेज चक्षुषि श्रोत्रे नभः घ्राणेक्षितिरापो रसने स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपदिश्यते।। तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तदात्मकमेवार्थमनुधावति तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च चरक 1/8/9-10
72. युक्तिः षड्धातु संयोगाद्गर्भाणां सम्भवस्तथा चरक सूत्र 11/21 पर हिन्दी टीका वैद्य पं० राम प्रसाद उपाध्याय पृ० 120 वेंकटेश्वर स्ट्रीम प्रेस बम्बई सम्वत् 1968
73. अथर्व० 11/10 (8)/11, 12, 14, 16
74. अथर्व० 11/10 (8)/13
75. उपर्युक्त पर सायण भाष्य
76. त्वचा प्रावृत्य सर्वंतत् संधा समदधान्महीा।। अथर्व० 11/8/15
77. ईशावशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्।। अथर्व० 11/8/17
78. अथर्व. 11/10 (8)/18
79. अथर्व. 11/10(8)/29 तथा इस पर सायण भाष्य भी देखें।
80. सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये।। अथर्व० 11/8/31
81. या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह। शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरे ऽधिप्रजापतिः अथर्व. 11/8/30
82. तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते सर्वाह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते।। अथर्व. 11/8/32
83. ऐतरेयोपनिषद् 1/2/4
84. मार्कण्डेय पुराण से संगृहीत दुर्गा सप्तशती, अध्याय 2 श्लोक 13 से 18
85. श्रीमद्भगवद्गीता 11/15, 19

86. ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति ते तिष्ठन्ति शरीरके पातालो भूधरा लोका आदित्यादि नवग्रहाः नागाश्च सर्वे देहिनां पिण्ड मध्ये व्यवस्थिताः।। आगम रहस्य पूर्वार्द्ध 3/337 से 352 तक विस्तृत विवरण द्रष्टव्य है।
87. ऋचोअक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वेनिषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्ते अमी समासते। अथर्ववेद 9/10/18
88. 'पंच देवोपासना' ले० पं० बलदेव उपाध्याय, कल्याण उपासनांक, पृ० 520 गीता प्रेस गोरखपर 1968।
89. विशेष विवरण हेतु देखें 'न्यास का प्रयोग और उसकी महिमा', कल्याण साधनांक पृ० 333 गीता प्रेस गोरखपुर अगस्त 1940 तथा आगम रहस्य पू० दशम पटल श्लोक 1435, 1436 तथा 1442 भी विशेश रूप से द्रष्टव्य हैं।
90. आगम रहस्य, पूर्वार्द्ध 10/1452, 1453, 1454, 1455
91. इसके विस्तृत विवरण हेतु देखें, पातञ्जल योगप्रदीप, स्वामी ओमानन्द तीर्थ पृ० 250 से 255 तक गीता प्रेस गोरखपुर 2045 वि० तथा लेख तांत्रिक साधन श्री देवेन्द्र नाथ चटोपाध्याय पृ० 421 से 423 कल्याण, साधनांक, गीता प्रेस 1940 ई श्री बगलामुखी यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आगम रहस्य कार ने यामल ग्रन्थों के आधार पर शक्तियों के क्रम में क्रमबद्ध शाकिनी काकिनी लाकिनी राकिनी डाकिनी तथा हाकिनी एवं याकिनी की स्थिति बताई है देखिये आगम रहस्य पृ० 87 व 88 शेष विवरण में समानता है पृ० 90 91 तथा 133 भी द्रष्टव्य है।
92. विशेष विवरण हेतु देखिये, आगम रहस्य, दशम पटल श्लोक 1435 से 1493 पृ० 130 से 136 तक तथा न्यास का प्रयोग और उसकी महिमा, कल्याण साधनांक पृ० 332 से 336 तक गीता प्रेस गोरखपुर अगस्त 1940

✦✦✦

शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः। –अथर्व. 4.35.7
देव मुझ श्रद्धालु की प्रार्थना पूर्ण करें।

येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते। –अथर्व. 12.2.51
जो श्रद्धा–पूजा को छोड़ कर केवल धन के पीछे पड़े हैं वे मानो चिताग्नि का स्वागत कर रहे हैं।

एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते। –अथर्व. 12.3.7
श्रद्धालु जन ही स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।

स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु। –अथर्व. 19.64.1
प्रभु! मुझे श्रद्धा और बुद्धि प्रदान करे।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (87-90) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

वेदों में मानवाधिकार

–मधुसूदन आर्य

2/15 आर्य वानप्रस्थ आश्रम,
ज्वालापुर (हरिद्वार)

भारतीय संस्कृति की वैचारिक परम्परा में मानव अधिकार एक मुख्य विषय रहा है। वैदिक तथा पुराणकाल में भारतीय सांस्कृतिक परम्परा पर रचित ग्रंथों में सामाजिक नियमों पर विस्तार से चर्चा मिलती है। इसका कारण है कि ये नियम प्राथमिक रूप से धार्मिक प्रकृति में थे और मानव अपने बदलते स्वभाव के कारण एवं अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये अपनी इच्छानुसार उनमें बदलाव करता रहा। यही कारण है कि मानव अधिकार हनन की घटना हर युग में होती रही है। रामायण काल और महाभारत काल में भी मानव अधिकारों के हनन की और विशेष रूप से स्त्री अधिकारों के हनन के उदाहरण मिलते हैं। वेदों में स्वतंत्रता के लिये युद्ध को भी उचित ठहराया गया है क्योंकि परतंत्रता व्यक्ति के अधिकारों का सबसे बड़ा हनन है। इस प्रकार मानव अधिकार हनन की इस प्रवृत्ति को रोकने के लिये वैदिक काल से ही प्रयास होते रहे हैं और आधुनिक युग में भी इस दिशा में प्रयास मानव अधिकार उद्घोषणाओं के रूप में हुआ है।

ऋग्वेदीय संदेश की ऋचा का संवाद है कि 'जिस व्यक्ति ने जन्म लिया है वह जीवन को सुन्दर बनाने के लिये उत्पन्न हुआ है। वह जीवन-संग्राम में लक्ष्य साधन के लिये अध्यवसाय करता है:-

जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य अ विदथे वर्धमानः।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्॥[1]

ऋग्वेद के दानस्तुति सूक्त की आठवीं ऋचा भी एक प्रहेलिका की तरह ऐसे वाक्य विन्यास के साथ मानव-मन की महत्वाकांक्षा की ओर संकेत करती है कि, जिसके पास एक अंश सम्पत्ति है वह दो अंश सम्पत्ति की कामना करता है दो अंश सम्पत्ति वाला तीन अंश धन वालों के पास जाता है और चार अंश वाला उससे अधिक धन वाले के पास जाता है। तात्पर्य यह है कि अल्प धनी, अधिक धनी बनने की कामना करता है। कामना की इस दौड़ में जो पीछे छूट गया, वह पीछे ही छूटता जाता है और शोषण का शिकार बन जाता है। इसी सूक्त की अन्तिम ऋचा में मानव एवं मानव स्वभाव की असमानता की ओर संकेत दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि हमारे दोनों हाथ देखने में समान है किन्तु उनका कार्य

भिन्न है। एक ही माता से उत्पन्न दो गायें समान दूध नहीं देतीं। दो यमज भ्राता होने पर भी उनका पराक्रम समान नहीं होता। एक ही कुल में दो व्यक्ति उत्पन्न होने पर भी वे समान उदार या दयालु नहीं होते।

एक पाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः॥

समौ चिद्धस्तौ न समंविविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः॥[2]

रामायणकाल में रावण द्वारा जनक नन्दिनी जानकी का हरण उस काल की अद्वितीय घटना रही है। इस निन्दनीय घटना को रोकने में गिद्धराज जटायु को अपने प्राण देने पड़े थे। महाभारत काल में कौरवों और पाण्डवों की भरी सभा में दुःशासन का द्रोपदी के केशों को पकड़कर घसीटते हुए सभा में लाना और वस्त्र उतारने का दुःसाहस करना उस काल के इतिहास में नारी अपमान की सबसे बड़ी निन्दनीय घटना थी–'**अग्रे कुरूणामथ पाण्डवानां, दुःशासनेनाहृत वस्त्रकेशा**'।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥[3]

देवों से प्रार्थना की गई कि सभी प्राणी मित्रभाव से रहें। दैवीय शक्ति ने भी प्राणिमात्र के लिये उपदेश किया और कहा कि, मैं सभी प्राणियों को मित्रभाव से देखता हूँ– '**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणिभूतानि समीक्षे।**' (शुक्ल यजुर्वेद 36/18)। किन्तु मानव कहाँ समझने वाला था, वह तो निर्बलों को पीडित करने में ही अपने ऐश्वर्य का भोक्ता बनता जा रहा था। उसका आत्मज्ञान इतना समृद्ध नहीं हो पाया था कि वह समझ सके कि संसार रूपी बाग में ही फूल की अपनी महक है किन्तु बाग को सींचने वाला माली एक ही है। ऐसा ज्ञान जागृत होने पर मानव इस संसार में स्वतंत्रतापूर्वक अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है। समूचे अथर्ववेद में सामूहिक जीवन जीने की सलाह दी गई है। जीवन का विकास और उसका क्रियान्वयन मनुष्य जीवन में ही हो सकता है। एक दूसरे से मिल जुलकर आपसी सौहार्द एवं सहयोग से कार्य करने की सलाह देते हुए तत्वद्रष्टा ऋषियों ने कहा कि–

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि
मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि॥[4]

वेदों की यह अवधारणा रही है कि-**ज्यायस्वंतः** (वृद्धों का सम्मान), या **वियोष्ट** (परस्पर लड़ना नहीं); **सधुराचरंतः** (एक धुरा अर्थात् एक नेता के नेतृत्व में कार्य करना) इत्यादि। वेद में यह भी कहा गया है कि स्वतंत्रता के बिना परतंत्र बुद्धि कुछ नहीं कर सकती। अतः स्वतंत्रता के लिये यदि युद्ध भी करना पड़े, एतदर्थ शस्त्र-निर्माण भी करना

पड़े तो कोई हर्ज नहीं। वेदों में देवताओं से प्रार्थना की गई है कि वे मानव को अच्छे पुण्यमय सच्चरित मार्ग में जाने के लिये सावधान तथा प्रेरित करें; अपराध करते हुए मानव को ऐसा करने से बचाएँ तथा उनकी रक्षा करें।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥[5]

यजुर्वेद की सूक्तियाँ भी बड़ी स्पष्ट हैं। इनमें कहा गया है कि-'**वयं स्याम् सुमतो**' (11/21)। अर्थात् हमें सद्बुद्धि प्रदान करें। '**विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्नातुरम्**' (16/48) अर्थात् ग्राम के सभी प्राणी रोग-रहित और हृष्ट-पुष्ट हों। वेदों में मनुष्य मात्र को ही नहीं अपितु स्थावर-जंगम, जड़-चेतन रूप सारे संसार को अधिकार संरक्षण का उपदेश हुआ है।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः।
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः॥[6]

इन मंत्रों के अनुसार पशु-पक्षी आदि सभी अब तक वेदाज्ञा के अनुसार चलते हैं। मनुष्य उनसे बुद्धि में वैशिष्ट्य प्राप्त करने पर भी आवश्यक कर्तव्यों की अवहेलना करता है। इसी अवहेलना के कारण संसार दुखी हुआ है। यही एक ऐसा कारण रहा है जिसकी वजह से मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिये नियमों व कानूनों का बन्धन तैयार करने की आवश्यकता हुई। युगों के अनुभव की वाणी है कि संसार को मित्र दृष्टि से देखो किन्तु, मनुष्य कानून की लगाम के बिना, बिगडैल घोड़े की तरह इस बात को समझ नहीं पाया।

भारत का संविधान देश का मूल कानून है। इसके भाग-3 में मूल अधिकारों की व्याख्या है। हर व्यक्ति को पुलिस तथा अन्य शासकीय अभिकरणों द्वारा दुर्व्यवहार और यातना से सुरक्षा दी गई है। उचित शिक्षा के अभाव में गरीब वर्ग, पिछड़ा तथा नारी वर्ग आज भी इन प्रदत्त अधिकारों को समझने में सक्षम नहीं हो पाया है। कानून ने इन्हें क्या-क्या अधिकार दिए हैं, इसकी जानकारी आज भी सामान्य वर्ग के लोगों को नहीं है। बालश्रम पर आज भी पूर्णतः प्रतिबन्ध नहीं लग सका है।

यद्यपि व्यक्ति के रहन-सहन, खान-पान, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक व धार्मिक स्तर में सुधार लाने के लिये संसद तथा विधान सभाएँ विपुल संख्या में कानून बनाती हैं किन्तु कानूनों का सही ढंग से पालन हो रहा है अथवा नहीं, इसकी जानकारी आम आदमी को नहीं होती। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि समाज के जिन लोगों को कानूनी संरक्षण मिलना चाहिये, वे इन अधिकारों ने अनभिज्ञ होते हैं। कानून ने उन्हें क्या-क्या अधिकार दिए हैं, उनका लाभ कैसे उठाया जाए, इसकी जानकारी पिछड़े वर्ग के लोगों को नहीं रहती। ऐसी स्थिति में यह वर्ग अधिकारों की सुरक्षा की बात सोच भी नहीं सकता। अस्तु, जन सामान्य को कानून के प्रति जानकारी हो, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये शिक्षा ही सबसे उत्तम माध्यम

बन सकता है। इसी माध्यम से पिछड़े वर्ग के लोगों के अधिकार एवं दायित्वों का बोध हो सकता है।

मानव जाति के इतिहास में 10 दिसम्बर 1948 एक ऐतिहासिक दिन माना जाता है। इस दिन संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा मानवाधिकार को अंगीकृत किया गया। सम्पूर्ण विश्व में यह दिवस मानव अधिकार दिवस के रूप में मनाया जाता है। भारतीय संविधान के लागू होने के चालीसवें वर्ष में संसद द्वारा 'मानव अधिकार संरक्षण विधेयक संसद के पटल पर लाया गया। यह विधेयक 'राष्ट्रीय मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम (Protection of Human Right Act) 1993' के नाम से इसी वर्ष 28 सितम्बर को अस्तित्व में आया और 'राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग (विधि)' अधिनियम 1994 के रूप में 08 जनवरी 1994 से प्रक्रिया में आया। मानवाधिकारों की यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है। इसका मूल लक्ष्य मानव जीवन और उसकी गरिमा को सुरक्षा प्रदान करना है। वस्तुतः ये वे अधिकार हैं जो हमारे संविधान द्वारा प्रदत्त हैं। संविधान के भाग-3 में ही मूल अधिकारों की व्याख्या है। भारतीय संविधान हर व्यक्ति को पुलिस व अन्य शासकीय अभिकरणों द्वारा किये जाने वाले दुर्व्यहार तथा यातना से सुरक्षा की गारन्टी देता है। संविधान के भाग-3 अनुच्छेद 12 एवं 13 में समता का, अनुच्छेद 14 से 18 में स्वतन्त्रता का अनुच्छेद 19 से 22 में अपराधों के लिये दोष सिद्ध के विरुद्ध अपनी बात रखने, अनुच्छेद 20 में अपराधों के लिये दोष सिद्ध के विरुद्ध संरक्षण व बचाव का अनुच्छेद 21 प्राण रक्षा और शारीरिक स्वतन्त्रता का, अनुच्छेद 22 में गिरफ्तारी या अवरोध (Arrest and detention) के विरूद्ध संरक्षण पाने का, अनुच्छेद 23 से 24 में बालश्रम आदि शोषण के विरुद्ध संरक्षण पाने का अनुच्छेद 25 से 28 में धर्म की तथा इससे सम्बन्धित शैक्षणिक संस्थाओं की स्वतंत्रता का अनुच्छेद 29 से 31 में सांस्कृतिक एवं शैक्षिक स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है। इन अधिकारों की सुरक्षा के लिये, यदि आवश्यक हुआ तो, सीधे उच्च न्यायालय अथवा उच्चतम न्यायालय में जाया जा सकता है।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. ऋग्. 3/8/5
2. वही, 10/117/8-9
3. वही, 1/89/1
4. अथर्व. 6/94/2
5. ऋग्. 10/137/1
6. अथर्व. 11/5/20-21

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (91-95) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

मानवीय आचरण के उत्थान में वैदिक देवताओं की भूमिका

–डॉ. विशाल भारद्वाज

असिस्टैंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

भारतीय संस्कृति देवताप्रधान संस्कृति है। यह सभी द्वारा वरणीय प्रथम संस्कृति है।[1] मनुष्य के लिए देवता अत्यधिक आदरणीय हैं। देवताओं की सम्माननीयता के कारण ही माता, पिता, गुरु व अतिथि के महत्त्व को देखते हुए इनको देवता कह कर पूजा जाता है।[2] वेदान्तसार के अनुसार तो मनुष्य की इन्द्रियों का सञ्चालन भी इन देवताओं के माध्यम से होता है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा व घ्राण नामक पांच ज्ञानेन्द्रियों को क्रमशः दिक्, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विनी कुमार देवता नियमित करते हैं। वाणी, हाथ, पैर, पायु एवं उपस्थ कर्मेन्द्रियों को क्रमशः अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम एवं प्रजापति द्वारा नियमित किया जाता है। चन्द्र, ब्रह्मा, शिव एवं विष्णु क्रमशः मन, बुद्धि, अहङ्कार एवं चित्त का नियमन करते हैं।[3] काव्यशास्त्र की बात करें तो सभी रसों के स्थायीभाव, उनके वर्ण के साथ-साथ उनका देवता भी निर्धारित किया गया है। शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुण, बीभत्स, भयानक, वीर तथा अद्भुत रस का क्रमशः विष्णु, प्रमथ, रुद्र, यम, महाकाल, काल, इन्द्र तथा ब्रह्मा देवता आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में निर्धारित किया है।[4] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने श्रीनारायण तथा लोक-माताओं को क्रमशः शान्त एवं वत्सल रस का देवता स्वीकार किया है।[5] इससे स्पष्ट है कि देवता मानवीय जीवन का अभिन्न अङ्ग हैं।

वेद में आठ वसुओं (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् व आत्मा), एकादश रुद्रों (प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान नामक पांच प्राण, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनञ्जय नामक पांच उपप्राण तथा आत्मा), द्वादश आदित्यों (धाता, मित्र, अर्यमा, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा तथा विष्णु), एक प्रजापति तथा एक ब्रह्म को मिलाकार 33 देवताओं की गणना की गई है।[6] वेद में अनेक स्थलों पर इन 33 देवताओं का उल्लेख हमें प्राप्त होता है।[7] निरुक्तकार आचार्य यास्क ने 'अग्नि' को पृथ्वी-स्थानीय, 'वायु अथवा इन्द्र' को अन्तरिक्षस्थानीय तथा 'सूर्य' को द्युस्थानीय देवता बताते हुए देवताओं की संख्या तीन मानी है[8] तथा यह भी कहा है कि ये ही देवता परमऐश्वर्यशाली होने के कारण बहुत से नामों से पुकारे जाते हैं।[9]

आज मनुष्य का आचरण शास्त्रोपदिष्ट कर्मों के न करने तथा निन्दित कार्यों के करने से व इन्द्रियों के निग्रह न करने से पतन की ओर उन्मुख है।[10] मानवीय आचरण के उत्थान में वैदिक देवताओं की विशेष भूमिका है। आज मनुष्य की वाणी कड़वाहट से भरी पड़ी है जोकि उसके दैनिक व्यवहार की साधनभूत है। मनुष्य के पास न तो किसी के साथ प्रेमपूर्वक वार्तालाप करने का समय है तथा न ही वह अपने दुष्ट भावों से दूसरों को हानि एवं कष्ट पहुंचाने में भी संकोच करता है। इस दुष्प्रवृत्ति के निवारणार्थ वेद का कथन है कि हे मनुष्य! जिस प्रकार दिन-रात, शुक्ल-कृष्णपक्ष, चैत्रादि माह तुम्हारी आयु का नाश करते हैं, वैसे ही मरुत् देवता शान्ति-स्थापन हेतु तुम्हारी कठोर वाणी का नाश करें तथा तुम्हारे दुष्ट भावों को दूर करें।[11] साथ ही कामना की गई है कि वाणी के स्वामी रूपी देवता हम सभी की वाणी को स्वाद अर्थात् मिठास से युक्त बनाएं।[12] अथर्ववेद में भी पृथ्वी से ऐसी ही कामना की गयी है कि वह हमारी वाणी को मधुरता प्रदान करे।[13] सविता देव से प्रार्थना की गयी है कि वे मनुष्य जीवन की समस्त बुराईयों को दूर करते हुए मनुष्य को भलाई से संयुक्त करें।[14]

मानवीय आचरण में जितनी कमियां हैं, उन कमियों को द्यौ, पृथ्वी तथा वायुदेव पूर्ण करें तथा मनुष्य के दोषों को दूर करते हुए सूर्य देवता नक्षत्रों सहित समस्त जनसमूह को सच्चरित्र बनाएं।[15] ऋग्वेद में भी सूर्य देवता से प्रार्थना की गयी है कि वे मनुष्य को पापों से निवृत्त करें तथा निन्दित कर्मों से बचाएं तथा मनुष्य की इस प्रार्थना का मित्र देवता (हिंसा से रक्षा करने वाला सूर्य), वरुण देवता (आवरण शक्ति सम्पन्न), अदिति (अखण्डनीय शक्तिशाली देवमाता), सिन्धु (स्यन्दन जलाभिमानी देवी), पृथ्वी (भूलोक की अधिष्ठात्री धारणशील शक्ति) व द्यौ (द्युलोक की अधिष्ठात्री दीप्तियुक्त शक्ति) अनुमोदन करें।[16]

जल देवता को अग्रगन्ता व प्रथम पवित्र करने वाला माना जाता है।[17] इस जल देवता से प्रार्थना की गई है कि मनुष्य जो कुछ दूसरों के प्रति द्वेष, घात, वैर, असत्य भाषण, निर्भयतापूर्वक दूसरों को कोसना, निन्दाजनक अपशब्दों का प्रयोग आदि निन्दनीय व मलिन कार्यों में प्रवृत्त होता है, उन्हें जल देवता जलों के बहाव की तरह बहाकर दूर कर दें तथा वे जलप्रवाह तथा पवित्रकारी वायु देवता मनुष्यों को उन पापों से निवृत्त करें।[18]

अग्नि देवता को शरीर का रक्षक, आयु एवं तेजस्विता प्रदायक तथा शरीर की न्यूनता को पूर्ण करने वाला बताया गया है।[19] अग्नि देवता से प्रार्थना की गयी है कि वे मलिन कार्य करने वालों, तस्करों, चोरों एवं हिंसकों को सब प्रकार से नष्ट कर दें।[20] वैदिक देवताओं द्वारा ऐसे कुकर्मी लोगों का नाश इस बात का परिचायक है कि ये देवता ऐसे दुष्कृत्यों के परित्याग की ओर सङ्केत करते हुए मनुष्य को श्रेष्ठाचरण की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा देते हैं।[21]

वैदिक देवता हिंसा की प्रवृत्ति के पूर्णतः विरोधी हैं। उनका मानना है कि युद्ध से किसी का भला नहीं होता है। इसलिए मानवीय प्रवृत्ति सदैव हिंसा-रहित होनी चाहिए। रुद्र देवता से प्रार्थना की गई है कि वे हमारे गुरुजनों, बालकों, तरुण पुरुषों, गर्भस्थ बालकों, माता, पिता, पुत्रपौत्रादिकों, आयु, पशुओं, शूरवीरों को हिंसा-विमुक्त करें।[22]

आज धर्म, जाति, भाषा आदि के आधार पर पृथक्तावाद की भावना समाज को ग्रसित कर रही है। परस्पर सद्भाव का सन्देश भी हमें वैदिक देवताओं के माध्यम से प्राप्त होता है। जिस प्रकार अग्नि तथा पृथ्वी देवता, वायु तथा अन्तरिक्ष देवता, सूर्य व आकाश देवता एवं जल तथा वरुण देवता परस्पर अनुकूलतापूर्वक आचारण करते हैं, उसी प्रकार हम तथा हमारे प्रेम व अभिलाषा के पात्र परस्पर अनुकूल बन कर आचरण करें।[23] इसी सन्दर्भ में इन्द्र देवता से प्रार्थना की गयी है कि वे मनुष्य को मन से गो आदि पशुओं तथा विद्वान् पुरुषों के साथ संयुक्त करे, श्रेष्ठ दिव्य मनुष्यों के आचरण व उनकी शुभ मति के साथ मनुष्य उत्तम वाणी के द्वारा सब कुछ प्राप्त करे तथा वह तेज, जल, दृढ़ शरीरों व कल्याणकारी शुद्ध मन से भली-भान्ति संयुक्त रहे।[24]

पञ्चतन्त्रकार ने अर्थोपार्जन के उपायों में वाणिज्य को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया है।[25] अधिक लोभ के वशीभूत होकर अनेक बार व्यापारी लोग अपने ग्राहकों को कम अथवा अधिक तौलकर ठग लेते हैं[26], जोकि निन्दनीय आचरण है। वेद में पूषा देवता से प्रार्थना की गई है कि वे इन लोभी व्यापारियों के हृदय की कठोरता को दूर करके उनके मन को कोमल बनाए[27], ताकि वे ऐसे अनुचित, व्यवहार का परित्याग करें।

मानवीय जीवन में श्रेष्ठ मार्गावलम्बन की अभिलाषा को ध्यान में रखते हुए वरुण देवता से कामना की गई है कि वे मनुष्य को सदैव 'उत्तम मार्ग' भाव सदाचार में प्रवृत्त करें।[28] जिस प्रकार सांसारिक पिता सदैव पुत्र के लिए कल्याणकारी होता है[29], ठीक उसी प्रकार वैदिक देवता भी हमारे लिए पितृ-तुल्य बनकर हमारे कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करते हैं।[30]

अतः स्पष्ट है कि वैदिक देवताओं का मानवीय आचरण निर्माण एवं उसके उत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान है। देवताओं ने मनुष्य के सामने ऐसे आदर्शों का प्रतिपादन किया है, जिनका अनुकरण मनुष्य के लिए अत्यन्त लाभप्रद एवं जीवनोपयोगी है।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. ..... सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः।। यजुर्वेद, 7/14
2. मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।। तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, एकादश अनुवाक।
3. तदानीमेतौ, विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दांश्चन्द्रचतुर्मुखशंकराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ता-ख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैतांश्च सर्वानेतान् 'स्थूलविषयाननुभवतो. .....।।' वेदान्तसार, पृ.सं.-93
4. शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः।
   रौद्रो रुद्राधिदेवश्च करुणो यमदेवतः।।

बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः।। नाट्यशास्त्र, 6/44-45

5. 1. ....शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः। ....साहित्यदर्पण, 3/245-246
2. ....पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः। ....वही, 3/254

6. 1. त्रयो देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः।
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे। देवा देवैरवन्तु मा।।
2. प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञो
यजुर्भिर्यजूषिं सामभिः सामान्यृग्भिर्ऋचः.....भूः स्वाहा।। यजुर्वेद, 20/11-12

7. 1. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्।। वही, 7/19
2. समिद्ध इन्द्र उषसामनीके पुरोरुचा पूर्वकृद्वावृधानः।
त्रिभिर्देवैस्त्रिंशता वज्रबाहुर्जघान वृत्रं वि दुरो ववार।। वही, 20/36
3. आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा।। वही, 34/47
4. श्रुष्टीवानो हि दाशुषे देवा अग्ने विचेतसः।
तान् रोहिदश्व गिर्वणस् त्रयस्त्रिंशतमा वह।। ऋग्वेद, 1/45/2

8. तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्नि पृथ्वीस्थानः वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।
निरुक्त,
9. तासां महाभाग्याद् एकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। निरुक्त 7/2
10. विहितस्यानुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्राच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छन्ति।। याज्ञवल्क्यस्मृति, 3/219
11. अर्धमासाः परूंषि ते मासा आ च्छ्यन्तु शम्यन्तः।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं सूदयन्तु ते। यजुर्वेद, 23/41
12. .....नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।। वही, 30/1
13. ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा।
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्।। अथर्ववेद, 12/1/16
14. विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव।। यजुर्वेद, 30/3
15. द्यौस्ते पृथिव्यन्तरिक्षं वायुश्छिद्रं पृणातु ते।
सूर्यस्ते नक्षत्रैः सह लोकं कृणोतु साधुया।। यजुर्वेद, 23/43
16. अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो ममहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः।। ऋग्वेद, 1/115/6
17. .....देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेपुवोऽग्र.....।। यजुर्वेद, 1/12
18. इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु।। यजुर्वेद, 6/17

19. तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे
देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण।। यजुर्वेद, 3/17
20. .....ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्ते अग्नेऽपि दधाम्यास्ये।।
दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून्जम्भयैस्तस्कराँ उत।
हनुभ्यां स्तेनान् भगवस्तांस्त्वं खाद सुखादितान्।।
ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने।
ये कक्षेष्वधायवस्तांस्ते दधामि जम्भयोः।। यजुर्वेद, 11/77-79
21. यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन्नाजा भवति किं चन प्रियम्। ....ऋग्वेद, 7/83/2
22. मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः।।
मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे।। यजुर्वेद, 16/15-16
23. अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सं नमतामदो,
वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते ते मे सं नमतामद।
आदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते मे सं नमतामद,
आपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे सं नमतामदः।
सप्तसंसदो अष्टमी भूतसाधनी।
सकामाँ अध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना।। यजुर्वेद, 26/1
24. समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः संसूरिभिर्मघवन्त्संस्वस्त्या।
सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानां स्वाहा।।
सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्।। वही, 8/15-16
25. उपायानाञ्च सर्वेषामुपायः पण्यसङ्ग्रहः।
धनार्थं शस्यते ह्येकस्तदन्यः संशयात्मकः।। पञ्चतन्त्र, 1/12
26. पूर्णाऽपूर्णैर्मानैः परिचितजनवञ्चनं तथा नित्यम्।
मिथ्याक्रयस्य कथनं प्रकृतिरियं स्यात्किरातानाम्।। वही, 1/17
27. 1. परि तृन्धि पणीनामारया हृदया कवे।
अथेमस्मभ्यं रन्धय।।
2. अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन्दानाय चोदय।
पणेश्चिदि्व म्रदा मनः।। ऋग्वेद, 6/53/5, 3
28. स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्।
प्र ण आयूंषि तारिषत्।। वही, 1/25/12
29. 1. .....पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा।। यजुर्वेद, 35/17
2. ....पितेवैधि सूनव आ सुशेवा स्वावेशा तन्वा.....।। वही, 14/3
30. स नः पितेव सूनवे, अग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये।। ऋग्वेद, 1/1/9

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (96-103) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

व्रत एवं उपवास का तात्त्विक विवेचन

–डॉ. नारायण प्रसाद भट्टराई

वेद विभाग,
उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

उपवास का स्वरूप

उपवास का सामान्य अर्थ है उप = अर्थात् समीप में वास करना। अथवा व्रतादि को ग्रहण या धारण करना। उप उपसर्ग पूर्वक वस्निवासयोः धातु से उपवास शब्द निष्पन्न होता है। इष्ट गुरु अभीष्ट के सन्निकट में अवस्थित होने को उपवास शब्द से व्यवहृत किया गया है। उपनिषदों में उपवास का अर्थ इस प्रकार से गृहीत है–'गुरुसमीपे ब्रह्म जिज्ञासाहेतोः निवसति, स एवोपवासः'[1] अर्थात् गुरु के समीप ब्रह्म की जिज्ञासा से निवास करता है वही उपवास है। उपवास के धर्म को बताते हुए वृद्ध कात्यायन और वसिष्ठ का उपदेश है कि पापों से निवृत्त पुरुष का गुणों के साथ जो वास है वह उपवास कहलाता है[2]। अर्थात् उपवास का आचरण करने वाले मनुष्य में पाप का वास नहीं होता है, और नहीं उसमें कोई भोग होता है। वहीं 'वृतु वर्तने' धातु से व्रत शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है-किसी वस्तु को वरण/ग्रहण या धारण करना। अर्थात् मनुष्य का निष्पाप होकर किसी को अन्तःकरण से धारण करना ही व्रतोपवास है।

उपवास का अर्थ

उपवास पौराणिक अर्थों में रुढ्यर्थक है- वहाँ उपवास का अर्थ अन्न भक्षण का निषेध है। अर्थात् इष्ट या ध्येय की प्राप्ति के लिए निराहार रहना ही पुराणों का उपवास है। पुराणों में इष्टदेव, व्रत के देवता को जानने का मन्त्र, यजन, ध्यान और कथा श्रवण आदि को गुण कहा गया है। इन्हीं गुणों को विद्वानों ने उपवास करने वालों के लिए भी विधान किया है[3]। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में ऋषि गौतम ने इनके साथ-साथ प्राणीमात्र में दया, सहनशीलता, अनिन्दा, पवित्रता, अपरिश्रम-अकृपणता-माङ्गलिक कृत्य-अनुचित इच्छा की अनिच्छा को भी उपवासधारी के गुण बतलाये हैं[4]। "तत् कथाश्रवणादयः" में जो तत् शब्द है, वह द्विधार्थक है।

1. जिस देवता का व्रत करना हो उसका अर्चन।
2. जिस व्रत में किसी देवता का विधान न हो वहाँ स्वेष्टदेव को आराध्य मानना चाहिए।

यह तत् पद द्वि अर्थक है। इस प्रकार सकाम उपवास का अर्थ होता है 'निराहार, जो पाप निवृत्ति पूर्वक गुणों के साथ रहता है वह उपवास है। उपवास के सम्बन्ध में यह अर्थ पुराणों में रूढ्यर्थक निराहार मात्र है।

उपवास में निषिद्ध कृत्य

ऋषि वृद्धवसिष्ठ के अनुसार उपवास और श्राद्ध में दन्तधावन निषिद्ध है। यह निषिद्धता केवल काष्ठ के दन्तधावन में है, अन्य में नहीं है। श्राद्ध और उपवास में काष्ठदन्त धावन की निन्दा करते हुये कहा गया है-श्राद्ध में काष्ठ दन्तधावन से सात कुलपर्यन्त नरकगामी होते हैं। इस वाक्य विशेष से विधि की तरह निषेध की भी व्यवस्था हो जाती है कि काष्ठ के धावन का ही निषेध है अन्य का नहीं[5]। इसीलिये पैठीसन ने लिखा है- जब काष्ठ के दन्तधावन का निषेध हो अथवा काष्ठ न मिले तो अन्य आयामों से मुखशुद्धि कर लेनी चाहिए। पर्ण-आदि से जिह्वा की शुद्धि करें। क्योंकि जिह्वा की शुद्धि सदा होनी चाहिए, चाहे व्रत हो अथवा नहीं[6]। महर्षि वेदव्यास ने स्मृति ग्रन्थ व्यासस्मृति में लिखा है- जिस दिन दन्तधावन न मिले, अथवा जिन तिथियों में काष्ठ दन्तधावन का निषेध हो उस दिन पानी से द्वादशबार मुखशुद्धि करना चाहिए[7]। इससे यह प्रमाणित होता है कि जिस दिन दन्तधावन का निषेध हो उस दिन भी पर्ण-आदि से जिह्वा को तथा जल से मुखक्षालन करना सर्वथा उचित व सर्वमान्य है।

उपवास कृत्य

देवलस्मृति का उपदेश है कि प्रात:कालीन जलपान को छोड़कर एक दिन में एक बार के अतिरिक्त जलपान भक्षण दिवाशयन व स्त्रीसङ्ग से भी उपवास भ्रष्ट व नष्ट हो जाता है। यदि जल के पान के बिना न रहा जाये तो एक बार पानी का पान करना उचित है। किन्तु उपवास के सन्दर्भ में ध्यान रहे कि 'अत्यये' का अर्थ है- एक बार जलपान भी तभी करना है जब शरीर में प्राणान्त की स्थिति हो[8]। इस सम्बन्ध में विष्णुधर्मोत्तर पुराण का वचन है-व्रत में एकबार से अधिक जलपान, दिवास्वप्न निद्रा, संसर्ग, पान और मांसभक्षण निषिद्ध है। व्रतान्त में ब्रह्मभोज का विधान सर्वत्र स्वीकृत है। व्रत में बारम्बार जलपान निषिद्ध है। परन्तु सकृत् जलपान का निषेध नहीं है। जब तक व्रत की पारणा न हो उस दिन तक व्रत का दिन समझना चाहिए। एक व्रत के पूर्ण होने पर ही दूसरे व्रत को करना चाहिए।[9]

एक साथ एक से अधिक व्रतों का पालन नहीं करना चाहिए। व्रत के समापन का दिन भी व्रत का ही होने से उस दिन भी व्रत में मांसादि वस्तुओं का सेवन निषिद्ध है।[10] आशय है कि व्रत के समाप्ति के दिन भी निषिद्ध वस्तुओं का सेवन निषेध है। उपवास में तो भोजन की प्राप्ति ही नहीं है। क्योंकि इस 10 नम्बर पाद-टिप्पणी श्लोक में व्रत का सम्बन्ध तो है, परन्तु उपवास का सम्बन्ध ही नहीं है तभी तो महर्षि वेदव्यास ने निर्णयामृत में कहा है-'व्रत तथा पारणा दोनों ही के दिन मांस या जिन वस्तुओं की संज्ञा मांस की गयी

हो, ऐसे औषधियों को भी भोजन के लिए प्रयुक्त नहीं करना चाहिए।[11] स्कन्दपुराण के अनुसार जल, फल, पय, ब्राह्मण, काम्या, हवि, गुरु आज्ञा और औषधि ये आठ वस्तुएँ व्रत को नष्ट नही करती। स्कन्दपुराण के अनुसार औषधि संज्ञा प्राप्त मांसौषधि का सेवन प्राप्त हुआ था, उसका भी निराकरण इस व्यास वचन से हो जाता है। व्रतार्थी व्रत के दिन अन्न स्मरण, दर्शन, गन्धों का आस्वादन, वर्णन और ग्रासों की चाह, शरीर अभ्यङ्ग, शिरोभ्यङ्ग, ताम्बूल भक्षण, सुगन्धित द्रव्यलेपन, बल तथा राग उत्पन्न करने वाली वस्तुओं का सेवन न करे।[13] व्रतार्थी के लिए हारीत का उपदेश है–'पतित पाखण्डी और नास्तिकों के साथ संवाद मिथ्या एवम् अनर्गल प्रगल्भ न करें।'[14] यहाँ अन्न का तात्पर्य मात्र भोज्य पदार्थों से नहीं है, अपितु भोगगत निषेध वस्तुयें भी अन्न के अन्तर्गत ही गृहीत हैं। अतः व्रतकाल में इसका स्मरण नहीं करना चाहिए। जिन वस्तुओं का व्रती पुरुष के लिए भक्षण आदि निषेध है, वह उन पदार्थों से हवन कर सकता है। अतः हवन कृत्य सम्पन्न करने में अभक्ष्य पदार्थों का निषेध नहीं है। अर्थात् जिन वस्तुओं का व्रत या उपवास में स्मरण व भक्षण का निषेध है उन वस्तुओं से यज्ञकार्य सम्पन्न करने में दोष नहीं है। इसीलिए ऋषि सुमन्तु ने व्रताधिकार में लिखा है– विहित अनुष्ठेय कृत्यों को न करने और इन्द्रियाशक्ति अभक्ष्य भक्षण हो तो प्रयत्न पूर्वक त्याग करना चाहिए।[15]

विष्णुधर्मोत्तरपुराण तो बुद्धिमान् ब्रह्मचारी या व्रतार्थी को निकृष्ट पतितों के दर्शन या स्पर्श अथवा सम्वाद होने पर प्रायश्चित्त का विधान करता है।[16] उसके अनुसार पतित के दर्शन होने पर सूर्य दर्शन, स्पर्श होने पर स्नान और सूर्य दर्शन तथा सम्वाद होने पर दस सहस्र शुचिपद (विष्णुस्मरण) का चिन्तन करने से प्रायश्चित्त पूर्वक शुद्धि होती है।[17] योगी याज्ञवल्क्य तो इस सम्बन्ध में और अधिक शुचिता पर बल देते हुए कहते हैं– यदि व्रत दान और अनुष्ठेय विधि में वाणी के क्रिया यम का लोप हो जाये तो वैष्णव मन्त्र का अथवा विष्णुस्मरण करना चाहिए।[18] इस विषय में यमस्मृति तो और अधिक मुखर है। उसका उपदेश है कि–मानसिक नियम का उल्लङ्घन या लुप्त हो तो आधि–व्याधि रहित भगवान् विष्णु का स्मरण करें।[19] व्रतकाल में अस्पृश्या स्त्री, चाण्डाल, महापातकी, जननाशौच, अशुच्यास्य तथा रजक (धोबी) आदि की बातें सुन ले तो प्रायश्चित्त स्वरूप सहस्र गायत्रीजप करने से व्रतचारी की शुद्धि होती है, ऐसा बृहन्नारदीय ग्रन्थ का मत है।[20]

व्रत और सन्ध्योपासन

सभी प्रकार के व्रतादि कृत्यों के लिए सन्ध्योपरान्त ही सङ्कल्पित होने का विधान है। क्योंकि सन्ध्या सभी कर्मों का अङ्गीभूत होने से अहर्निश का प्रथम कृत्य है। अतः प्रतिदिन सन्ध्योपरान्त ही अन्य कर्मों को करने का अधिकार प्राप्त होता है। इसीलिए तो ऋषिदक्ष मिताक्षरा में लिखते हैं–'जो सन्ध्या नहीं करता वह सदा ही अपवित्र है। सन्ध्या से रहित वैदिक कर्म को करने या कराने का अधिकारी नहीं है। यदि वह किसी वैदिक कर्म को करता है वह कर्म अफलवान् ही होता है।[21] सन्ध्या के विषय में कुछ आचार्यों एवम् ऋषियों का

मत है कि प्रात:काल की सन्ध्या ही सब कार्यों का आधारभूत अङ्ग है। परन्तु सर्वमान्य आचार्यों का मत है कि दोनों ही सन्ध्योपासन मुख्य हैं। प्रात: काल होने वाले कर्म में प्रात:कालीन सन्ध्या तथा सायङ्काल के उपरान्त सम्पन्न होने वाले कृत्यों के लिए सायङ्कालीन सन्ध्या आवश्यक अङ्ग है। अत: दोनों ही काल में सन्ध्या प्रथम कृत्य होने के साथ-साथ अपरिहार्य है। इसीलिए प्रात:काल सम्पन्न होने वाले कृत्य सन्ध्योपरान्त ही करें।[23] क्योंकि गौड़निबन्ध नामक ग्रन्थकार का उपदेश है- विद्वानों को प्रात: सन्ध्योपासन के उपरान्त ही व्रत का सङ्कल्प करना चाहिए।[23] प्रात: सन्ध्या उषाकाल में करना ही सर्वोत्तम कहा गया है। प्रात: सन्ध्या के बाद सूर्योदय के होने पर ही दान आदि का विधान है।

मार्कण्डेय पुराण में ऋषि कृष्णद्वैपायन का मत है कि सूर्योदय से पूर्व व्रत तथा दान आदि का क्रम निषेध है।[24] क्रम का तात्पर्य उपक्रम है। उपक्रम उसे कहा जाता है जिसके प्रारम्भ में अर्थ होता है। यदि 'व्रतदानादिकक्रम:' के स्थान पर 'व्रतदानादिकक्रिया:' ऐसा पद प्रयोग किया जाये तो यहाँ व्रत दान आदि क्रियाएँ ऐसा अर्थ करने पर व्रत का सङ्कल्प दान आदि क्रियाएँ सूर्योदय के बिना नहीं करना चाहिए। सूर्योदय शब्दग्रहण करने मात्र से ही उषाकाल का बोध होता है। इसी लिए कल्पतरुकार उषाकाल से पूर्व रात्रि में स्नान का निषेध करते हैं। **ज्योतिषीय गणना अनुसार सूर्योदय से लगभग दो घण्टे चालीस मिनट पूर्व का काल उषाकाल कहलाता** है।

छान्दोग्यपरिशिष्ट का मत है कि मनुष्य मुक्तशिखा और उपवीत रहित कदापि न रहे। जो मनुष्य बद्धशिखा और उपवीती (यज्ञोपवीतधारी) हुए बिना शुभकृत्य करता है तो उस कर्म को भी अकर्म ही माना गया है। अर्थात् बद्धशिखा और उपवीती हुए बिना कोई कर्म करता है तो वह कर्म करना न करने बराबर है। ऐसे कर्म निष्फल ही होते हैं। पितृकार्य (श्राद्ध, तर्पणादि) में वैदिक मन्त्रपाठ करते हुए अस्पृश्यों के स्पर्श या दर्शन मात्र होने से या सौगन्ध लेने, अपानवायु के उत्सर्जन करने, मिथ्या भाषण तथा प्रहार करने व बिडाल मूसक के स्पर्श होने, अपशब्द बोलने, क्रोध करने, अस्पृश्या स्पृश्य होने पर उदकाचमन करने मात्र से शुद्ध होता है।[26] मार्कण्डेयपुराण के अनुसाद दैव तथा पैतृक वैदिक कर्मों को करने वाला पुरुष मस्तक सहित सर्वाङ्ग स्नान करके ही कृतकर्म में प्रवृत्त हो।[27] व्रत तथा उपवास के समापन के सम्बन्ध में वाराहपुराण का उपदेश है- स्नान, सन्ध्या, तर्पणादिक कृत्य, जप, हवन और देवपूजा करें। उसके उपरान्त ब्रह्मभोज करायें तथा स्वयं भी भोजन करें। व्रतोद्यापन के दिन देवपूजा व विर्सजनोपरान्त सायङ्कालीन सन्ध्यादि कृत्यों तक उपवास नहीं करना चाहिए।[28] इसीलिए भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने और अधिक स्पष्ट करते हुए उपदेश दिया है कि 'महापुरुषों और ब्रह्मवादी जनों को चाहिए कि किसी दूसरे काल को अन्य किसी पुण्यकाल का प्रतिनिधि न बनायें।[29] इसी प्रकार से विद्वान् को अरणिकाष्ठ का प्रतिनिधि किसी अन्य काष्ठ या पाषाण को, किसी पुण्य देश को किसी अन्य पुण्यदेश या स्थान को और अपने पुत्र स्त्री का भी किसी को प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहिए। इस सम्बन्ध में विधिवाक्य का उपदेश है कि जिस वस्तु का किसी स्थान में या कहीं निषेध कर दिया

गया है, वह उसी स्थान व विषय से तात्पर्य रखता है।[30]

व्रत में स्व्यधिकार

यदि गर्भिणी स्त्री व्रताचरण के मध्य सूतिका को प्राप्त हो या कुमारी रजोधर्म को प्राप्त हो जाये अथवा रोगिणी हो जाये तो स्त्री के द्वारा किये जा रहे व्रत को किसी अन्य से सम्पन्न करवाना चाहिए। जब स्त्री या कुमारी शुद्ध हो जाये तो स्वयं ही व्रत को पूर्ण करें।[31] अर्थात् स्वस्थ और शुचिता होने पर व्रताचरण स्वयं ही करे किसी अन्य से व्रतोपवास न करायें। इस सम्बन्ध में राजा सत्यव्रत का उपदेश है– स्त्रियों के द्वारा दीर्घकालिक व्रतोपवास के आचरण के मध्य ही रजोधर्म आदि की अशुद्धि हो जाये तो रजोधर्म व्रत को खण्डित नहीं करता। अपितु रजोधर्म से शुद्ध होकर व्रत को पूर्ण करें। देव और पितृकार्य के लिए रजोधर्म से पञ्चम दिवस में शुद्ध मानी गयी है। रजोधर्म और सूतक का स्पर्श होने मात्र से अशुद्धि होती है। यहाँ सूतक का अर्थ मृत्यु व प्रसूति विषयक अशुद्धि है। उक्त दोनों अवस्थाओं में किसी अन्य से देवार्चन करवाना चाहिए। ग्रहण में तो सूतक का स्पर्श होते ही देवार्चन का सर्वत्र निषेध है।[32]

यदि पूर्व से किये जा रहे व्रत के मध्य में अशुचिता की स्थिति उत्पन्न हो जाये तो अशुद्धि की निवृत्ति होने पर उस व्रत को पूर्ण करे। अशुद्धि में दान व अर्चन सर्वत्र निषिद्ध है। पति पत्नी को एक दूसरे के लिए व्रत करने का विधान है। दोनों में कोई असमर्थ हो जाये तो परस्पर एक दूसरे के व्रत को पूर्ण करें। यदि दोनों ही व्रत पूर्ण करने में असमर्थ हो तो किसी पुत्रादि प्रतिनिधि के रूप में व्रत को पूर्ण करें। इससे व्रतभङ्ग नहीं होता।[33]

व्रतादि में अन्याधिकार

यदि आहिताग्नि (श्रौतकर्मानुष्ठात्री) अथवा अश्रोत्रिय मनुष्य उपवास में असमर्थ हो तो पुत्र से, पुरोहित से, या किसी अन्य भृत्यादि से व्रतोपवास को पूर्ण करवायें। इससे व्रत में वैगुण्यता उत्पन्न नहीं होती है। इस प्रकार किसी अन्य से भी व्रत को कराने पर करने व कराने वाले दोनों को यह व्रत फलदायक होता है। पत्नी पति के लिए एकादशी व्रत का आचरण कर सकती है। यह व्रत पुरुष के साथ-साथ पत्नी को भी पुण्यप्रद होता है।[34] स्त्री केवल अपने पति के लिए नहीं, अपितु मातामही आदि के लिए भी एकादशी का व्रत करे तो उसे शतगुण फलदायी बतलाया है। इसी प्रकार विप्र भी किसी के लिए श्रद्धा भक्ति पूर्वक व्रतोपवास करे तो करने व कराने वाले को यह व्रत फलप्रद होता है। उक्त व्रतों के अतिरक्त काम्यकर्म के व्रताचरण में किसी अन्य (भृत्यादि) को प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहिए, ऐसा वायुपुराण में ऋषि गालव का मत है।[35] आचार्य मण्डल काम्यकर्म में किसी को प्रतिनिधि न बनाने के समर्थक हैं। इसके साथ-साथ वह नित्य और नैमित्तिक कृत्यों में किसी अन्य (भृत्यादि) को प्रतिनिधि न बनाने के पक्ष में हैं। अर्थात् आह्निक कृत्यों को सम्पन्न करने में कोई अन्य प्रतिनिधि नहीं हो सकता है।[36] इस विषय में विश्वनाथशर्मा

'व्रतराज' के उपवासधर्म प्रकरण में कहते हैं कि जिस किसी वस्तु का शास्त्र में जहाँ निषेध किया गया हो उस वस्तु को किसी का प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहिए।[37] अतः शास्त्र में जहाँ कहीं निषिद्ध वस्तु का निषेध किया गया हो उसे अन्यों के द्वारा भी प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहिए।[38]

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. भारतीय दर्शन (उमेशचन्द्र त्रिपाठी कृत) पूर्व कुलपति, पटना विश्वविद्यालय, पटना बिहार।
2. तत्रोपवासस्वरूपं कात्यायनवृद्धवसिष्ठाभ्यां दर्शितम्
   उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह। उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः।।
3. उपवासगुणाः- तज्जाप्ययजनध्यानतत् कथाश्रवणादयः। उपवासकृतामेते गुणाः प्रोक्ता मनीषिभिः।।
4. दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासोऽकार्पण्य च माङ्गल्यस्पृहेत्यादिभिः।। (गौतमः, विष्णुधर्मोत्तरपुराणे)
5. तच्छब्देनोपास्या देवता व्रतदेवता वा। एवञ्च पापनिवृत्त्या गुणानुष्ठानसहितो निराहारस्य वासोऽवस्थानम् उपावस इत्युक्तं भवति इदं च फलसाधनस्योपवासस्य स्वरूपमुक्तम्।
   उपवासपदार्थस्तु स्मृतिपुराणव्यवहारे रूढ्या, निराहारमात्रम्।
6. उपवासे तथा श्राद्धे न कुर्याद्दन्तधावनम्। काष्ठेन इति शेषः।।
   अत एव तान्निन्दति दन्तानां काष्ठसंयोगो हन्ति सप्तकुलानि च।।
   इतिवाक्यशेषाद्विधोरिव निषेधस्यापि विशेषपरता युक्तैव।। (वृद्धवसिष्ठः)
7. तेन अलाभे वा निषेध वा काष्ठा न दन्तधावने। पर्णादिना विशुद्ध्येत जिह्वोल्लेखः सदैव हि।। (ऋषिपैठीनसः)
8. अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धायां तथा तिथौ। अपां द्वादश गण्डूषैर्विदध्याद्दन्तधावनम्।। (वेदव्यासवचनम्)
9. असकृज्जलपानाच्च सकृत्ताम्बूलचर्वणात्। उपवासः प्रणश्येत दिवास्वापाच्च मैथुनात्।।
   अत्यये चाम्बुपानेन चोपवासः प्रणश्यति। अत्यये जलपानं विना प्राणात्यये।। (ऋषिर्देवलः)
10. असकृज्जलपानं च दिवास्वप्नं च मैथुनम्। ताम्बूलचर्वणं मासं वर्जयेद्व्रतवासरे।।
    पारणान्तं व्रतं ज्ञेयं व्रतान्ते विप्रभोजनम्। असमाप्ते व्रते पूर्वे कुर्यान्नेव व्रतान्तरम्।। (विष्णुधर्मोत्तर-पुराणे)
11. वर्जयेत् पारणे मांसं व्रताहेऽप्यौषधं सदा। (निर्णयामृते व्यासः)
12. अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपोमूलं फलं पयः।। हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम्।। (स्कन्दपुराणे)
13. स्मृत्यालोकनगन्धादिस्वादनं परिकीर्तनम्। अन्नस्य वर्जयेत्सर्वं ग्रासानां चाभिकाङ्क्षणम्।।
    गात्राभ्यङ्गं शिरोभ्यङ्गं ताम्बूलं चानुलेपनम्। व्रतस्थो वर्जयेत् सर्वं यच्चान्यद्बलरागकृत्।। (विष्णुरहस्ये)
14. पतितपाखण्डादिनास्तिकादिसम्भाषणानृताश्लीलादिकमुपवासादिषु वर्जयेत्।। (इति हारीतवचनम्)

15. विहितस्याननुष्ठानकमिन्द्रियाणामनिग्रहः। निषिद्धसेवनं नित्यं वर्जनीयं प्रयत्नतः। (सुमन्तः, व्रताधिकारे)
16. तस्यावलोकनात्सूर्यं पश्येत् मतिमान्नरः। (विष्णुपुराणे)
17. संस्पर्शे च नरः स्नात्वा शुचिरादित्यदर्शनात्। सम्भाष्य ताञ्छुचिपदं चिन्तयेदयुतं बुधः।। (विष्णुधर्मोत्तरपुराणे)
18. यदि वाग्यमलोपः स्याद्व्रतदानक्रियादिषु। व्याहरेद्वैष्णवं मन्त्रं स्मरेद्वा विष्णुमव्ययम्। (योगि-याज्ञवल्क्यस्मृतेः)
19. मानसे नियमे लुप्ते स्मरेद्विष्णुमनामयम्। (यमः, यमस्मृतेः)
20. रजस्वालां च चाण्डालं महापातकिनं तथा। सूतिकां पतितं चैव उच्छिष्टं रजकादिकम्।। व्रतादिमध्ये शृणुयाद्यद्येषां ध्वनिमुत्तमः। अष्टोत्तरसहस्रं तु जपेद्वै वेदमातरम्।। (नारदः, बृहन्नारदीये)
21. सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु। यदन्यत् कुरुते किञ्चिन्न तस्य फलमश्नुते।। (दक्षः, मिताक्षरायाम्)
22. प्रातः कालीनव्रतादिसङ्कल्पस्तु प्रातः सन्ध्या कृत्वैव कार्या।
प्रातः सन्ध्या बुधः कृत्वा सङ्कल्पं तत आचरेत्।। (गौडनिबन्धधृतस्मृतौ)
23. सूर्योदयं विना नैव व्रतदानादिकक्रमः।। सूर्योदयशब्देन उषः कालो लक्ष्यते। (मार्कण्डेयपुराणे)
24. तं विना रात्रौ स्नानादिकं न कार्यम्। (इति कल्पतरुनामकग्रन्थे)
25. सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन। विशिखो व्युपवीती च यत्करोति न तत् कृतम्।।
पित्र्यमन्त्रानुद्रणे आत्मलम्भे अवेक्षणे। अधोवायुसमुत्सर्गे प्रहारेऽनृतभाषणे।।
मार्जारमूषकस्पर्श आक्रोशे क्रोधसम्भवे। निमित्तेष्वेषु सर्वत्र कर्म कुर्वन्नपः स्पृशेत्।। (छान्दोग्य-परिशिष्टे)
26. शिरः स्नातश्च कुर्वीत दैवं पित्र्यमथापि वा।। (मार्कण्डेयपुराणे)
27. स्नानसन्ध्यातर्पणादि जपो होमः सुरार्चनम्। उपवासवता कार्यं सायं सन्ध्याहुतीर्विना।। (वाराहपुराणे)
28. तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।। (भगवद्गीता-याम्)
29. त्रिमात्रस्तु प्रयोक्तव्यः कर्मारम्भेषु सर्वशः।। त्रिमात्रः प्रणवः। (आपस्तम्बः)
30. गर्भिणीसूतिकाश्च कुमारी चाथ रोगिणी।
यदाऽशुद्धा तदाऽन्यदेव कारयेत् प्रयता स्वयम्।। प्रयता-शुद्धा। (हेमाद्रौ पाद्मे)
31. प्रारब्धदीर्घतपसां नारीणां चेद्रजो भवेत्।
न च तत्र व्रतस्य स्यादुपरोधः कथञ्चन।। व्रतेति उपवासः। (राजा सत्यव्रतः)
32. अन्तरा तु रजः स्पर्शे पूजामन्ये कारयेत्।। सूतकेऽप्येवम्।। पूर्वं सङ्कल्पितं यच्च व्रतं सुनियतव्रतैः।
तत्कर्तव्यं नरैः शुद्धं दानार्चनविवर्जितम्।। (मदनरत्ने मात्स्ये च)
33. भार्या पत्युर्व्रतं कुर्याद् भार्यायाश्च पतिर्व्रतम्।
असामर्थ्येऽपरस्ताभ्यां व्रतभङ्गो न जायते।। अपरः पुत्रादि। (ऋषिपैठीनसिः)

34. उपवासे त्वशक्तस्तु आहिताग्निरथापि वा। पुत्राद्वा कारयेदन्याद् ब्राह्मणाद्वापि कारयेत्।। उपवासं प्रकुर्वाणः पुण्यं शतगुणं लभेत्।। नारी च पतिमुद्दिश्य एकादश्यामुपोषिता।। (महर्षिव्यासः वायुपुराणे)
35. पुण्यं शतगुणं प्रोक्तमित्याह गालवो मुनिः। मातामहादीनुद्दिश्य एकादश्यामुपोषणे।। (ऋषिगालवः, वायुपुराणे)
    कृते च भक्तितो विप्राः समग्रं फलमाप्नुयुः। एते च प्रतिनिधयो न काम्ये।।
36. काम्ये प्रतिनिधिर्नास्ति नित्ये नैमित्तिके च सः।
    काम्येऽप्युक्रमादूर्ध्वं केचित् प्रतिनिधिं विदुः।। (महापण्डित आचार्यमण्डनः)
37. नापि प्रतिनिधातव्यं निषिद्धं वस्तु यत्र कुत्रचित्। (व्रतराजः)
38. शास्त्रैकदेशीनो व्यापिनो नः। (कामसूत्रः, प्रथमप्रकरणम्)

✦✦✦

शं नो देवी पृश्निपर्णी। –अथर्व. 2.25.1
पृश्निपर्णी हमारी व्याधि को शान्त करे।

रोहण्यसि रोहणि! अस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी। –अथर्व. 4.12.1
हे रोहणि! तू हड्डी को जोड़ देने वाली है, कटे को जोड़ देने वाली है।

रोहयेदमरुन्धति। –अथर्व. 4.12.1
हे घाव को भरने वाली! मेरे घाव को भर।

छिन्नं सन्धेह्योषधे। –अथर्व. 4.12.5
हो ओषधि! कटे को जोड़।

अजशृङ्ग्यज रक्षः। –अथर्व. 4.37.2
हे अजशृङ्गि! रोग-राक्षसों को दूर कर।

ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तुशं हृदे। –अथर्व. 8.7.17
ये रसीली औषधियाँ हमारे हृदय को शान्त-स्वस्थ करें।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (104-111) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

योग द्वारा विद्यार्थियों में स्मृति क्षमता का विकास

–डॉ. ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
मानवचेतना एवं योगविज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

डॉ. ऊधम सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर
मानवचेतना एवं योगविज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

यदि किसी मनुष्य की स्मृति विलुप्त हो जाए तो उसका व्यवहार किस प्रकार का हो जाएगा? न तो वह स्वयं को समझ सकेगा, न संसार और संसार में निवसित लोगों को। न तो वह अपने बच्चों को पहचानेगा, न अपनी पत्नी, घर और सम्बन्धियों को। किससे क्या लिया था? क्या दिया था? ये सभी समाप्त हो जाएगा। ऐसी अवस्था में उसे विक्षिप्त समझा जाएगा। इसलिए यह समझना बहुत आसान है कि स्मृति क्षमता का होना हमारे मनुष्य जीवन के लिए एक दिव्य वरदान से कम नहीं है। स्मृति के बिना मनुष्य की कल्पना असंभव सी है। स्मृति के आधार पर ही मनुष्य अपने दैनिक कर्म एवं कर्तव्यों को पूर्ण करता है। जीवन में स्मृति का होना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य में स्मृति अधिक या कम होने से उसकी सफलता पर प्रभाव पड़ता है। क्षीण स्मृति का होना हमारे लिए असुविधाजनक ही नहीं वल्कि हानिकर भी है, क्योंकि क्षीण स्मृति होने से प्रत्येक कार्य में दूसरों की अपेक्षा हम पिछड़ जाएंगे। अच्छी स्मरण क्षमता हमारे जीवन के प्रत्येक कार्य में सहायक सिद्ध होती है।

इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति स्मृति क्षमता को बढ़ाने के लिए उपाय खोजता है, लेकिन विद्यार्थियों को इसकी सबसे अधिक आवश्यकता अनुभव होती है। किस प्रकार पढ़ा हुआ जल्दी याद हो जाए? याद किया हुआ भूलें नहीं, इन अनेक प्रश्नों में विद्यार्थी का मन उलझा रहता है। विद्यार्थी इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए विशेषज्ञों की राय एवं दवाओं का सहारा लेने लगता है। आज की औषध निर्मात्री कम्पनियां भी विद्यार्थियों की इन कठिनाइयों का लाभ उठाने में लग गई हैं। आकर्षक विज्ञापन, चमत्कारिक लाभों को गिनाकर छात्र-छात्राओं की इस आवश्यकता से व्यावसायिक हित साधा जाता है। स्मृति बढ़ाने के ये उपाय एक प्रकार से मृगमरीचिका ही सिद्ध होते हैं। स्मृति-क्षमता एक दैवीय वरदान से कमतर

नहीं। जो अच्छी स्मृति-क्षमता से सम्पन्न हैं, आज के युग में उनके सफल होने के अवसर ज्यादा होते हैं। अच्छी स्मृति पाने की इस लालसा को हम योगाभ्यास के माध्यम से पूर्ण कर सकते हैं। आवश्यकता है कि योग की इन विधियों को हम अपने जीवन का अंग बना लें। योग के अभ्यासों जैसे आसन, प्राणायाम, मुद्रा एवं ध्यान के द्वारा स्मृति क्षमता को विकसित किया जा सकता है।

स्मृति–

स्मृति से तात्पर्य उस मानसिक प्रक्रम से है जिसमें व्यक्ति ज्ञानेन्द्रियों से सूचनाओं को ग्रहण करके अपने मस्तिष्क में संचित करता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उनको प्रत्यावाहित करता है। अनुभूत किए हुए विषयों को ठीक-ठीक उसी रूप में स्मरण होना स्मृति कहलाती है। **वुडवर्थ** के अनुसार "जो बात पहले सीखी जा चुकी है, उसे स्मरण रखना ही स्मृति है"।

एटकिंसन एवं शिफ्रीन (1968) के अनुसार स्मृति की तीन अवस्थायें होती हैं-

1. कूट संकेतन (Encoding) – यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सूचना को उस रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है कि वे स्मृति में प्रवेश पा सकें।
2. संचयन (Storage) – इस अवस्था में प्राप्त सूचनाओं को कुछ समय तक के लिए संचित करके रखा जाता है।
3. पुन:प्राप्ति (Retrieval) – इस प्रक्रिया में आवश्यकतानुसार व्यक्ति संचयन में मौजूद सूचनाओं में से विशिष्ट सूचना की खोज करता है।

इन्ही आधारभूत तथ्यों को ध्यान में रखते हुए न्यूरोसायकोलॉजिस्ट स्मृति को तीन प्रकार का मानते हैं–

1. **संवेदी स्मृति –** संवेदी स्मृति में व्यक्ति सूचनाओं को सामान्यत: 1 सैकण्ड या उससे कम अवधि के लिए रख पाता है। यह दो प्रकार की होती है–

i) प्रतिमा स्मृति (Iconic Memory) – इसमें व्यक्ति द्वारा देखे गए वस्तु या व्यक्ति के बारे में एक सैकण्ड तक एक दृष्टि चिह्न (Visual trace) रख पाता है।

ii) प्रतिध्वनि स्मृति (Echoic Memory) – इस प्रकार की स्मृति में व्यक्ति किसी सुनी हुई आवाज उद्दीपक का चिह्न (Auditory trace) अपने मन में एक सेकण्ड से भी कम समय के लिए रख पाता है।

2. **लघुकालीन स्मृति –** लघुकालीन स्मृति में व्यक्ति किसी भी सूचना को अधिक से अधिक 20 से 30 सेकण्ड तक संचित करके रख सकता है। साथ ही इसमें प्रविष्ट होने वाली सूचनायें क्षीण प्रकृति की होती हैं क्योंकि इन्हें व्यक्ति एक या दो बार प्रयास करने पर ही सीख लेता है। जैसे किसी व्यक्ति के पते का पिनकोड याद करना

तथा लिखने के बाद उसे भूल जाना। इस स्मृति को कई नामों से जाना जाता है जैसे– सक्रिय स्मृति (Active Memory), तात्कालिक स्मृति (Immidiate Memory) एवं चलन स्मृति (Working Memory)।

3. **दीर्घकालीन स्मृति –** इस प्रकार की स्मृति में व्यक्ति द्वारा किसी सूचना को संचित करने की निश्चित समय सीमा नहीं होती है। इसमें सूचनाओं को एक घण्टे से लेकर पूरे जीवन पर्यन्त तक भी संचित करके रखा जा सकता है। इसमें सभी प्रकार की सूचनाओं को संचित किया जाता है। तथा इसका स्वरूप स्थायी होता है।

विस्मृति–

मनोवैज्ञानिकों ने स्मृति के दो पक्ष बताये हैं धनात्मक और दूसरा ऋणात्मक पक्ष। स्मृति के धनात्मक पक्ष से आशय पूर्व अनुभूतियों को स्मरण रखने से होता है तथा ऋणात्मक पक्ष से तात्पर्य उन अनुभूतियों को याद करने की असमर्थता से होता है। स्मृति के विपरीत प्रक्रिया विस्मरण या विस्मृति कहलाती है। विस्मरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें हम विगत अनुभवों को वर्तमान चेतना में लाने में सफल नहीं हो पाते हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रयत्न करने पर भी पूर्व अनुभव या क्रिया का स्मरण न हो पाना ही विस्मरण कहलाता है।

विस्मृति के कारण–

स्मृति क्षमता में कमी के कई कारण हैं जिनमें प्रमुख रूप से निम्न हैं–

1. चिंता एवं तनाव

तनाव एवं चिंता का स्मृति पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। चिंता एवं तनाव से मस्तिष्क में अनावश्यक दबाव बढ़ने से स्मृति क्षमता कम होने लगती है।

2. मानसिक कार्य की अधिकता

मानसिक कार्य की अधिकता एवं कार्य के दबाव होने पर भी मस्तिष्क की क्षमता कम हो जाती है।

3. मस्तिष्कीय चोट

सिर के किसी भी हिस्से पर चोट लगने से भी स्मृति क्षमता प्रभावित होती है।

4. अनिद्रा

पर्याप्त नींद न लेना भी स्मृति को कम कर देता है। तनाव, इन्सोमिया, स्लीप एपनिया के कारण व्यक्ति पर्याप्त नींद नहीं ले पाता है, जिससे स्मृति क्षमता में कमी आ जाती है।

5. पोषण की कमी

विटामिन बी1 व विटामिन बी2 की कमी भी स्मृति को प्रभावित करती है।

6. अवसाद

निराश मन:स्थिति में किसी भी काम में कम ध्यान देने से भी स्मृति प्रभावित होती है। निराशा के कारण काम में मन नहीं लगता जिससे असफलता ही मिलती है।

7. दवाओं का अत्यधिक सेवन

नीदं लाने के लिए ली गई दवायें जैसे एण्टीहिस्टामिन्स, एण्टीएन्जाएटी मेडिकेशन, एण्टीडिप्रेशेन्ट्स सिजोफ्रेनिया के उपचार हेतु ली गई दवायें, दर्द निवारण हेतु ली गई दवाओं से भी स्मृति क्षमता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि विषयों के संग से उनकी प्राप्ति की कामना, कामना से क्रोध, क्रोध से सम्मोह और इस सम्मोह से स्मृतिभ्रम हो जाता है[1]। स्मृति के भ्रंश होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि के नाश से स्वयं का नाश हो जाता है[2]। अत: स्मृतिविभ्रम से बचने के लिए विषयों के संग से दूर रहना एवं योग के अनुशासन को जीवन का अंग बनाना चाहिए।

स्मृति क्षमता और योग–

भारतीय विधाओं में योग एक शीर्षस्थ विद्या के रूप में प्रतिष्ठित है। महर्षि पतंजलि ने स्मृति को चित्त की एक वृत्ति के रूप में परिभाषित किया है। महर्षि ने स्मृति के संदर्भ में कहा है कि अनुभव किये हुये विषय का न छिपना अथवा प्रकट हो जाना स्मृति है[3]। चित्त की पांच वृत्तियों[4] में अन्तिम स्मृति का वर्णन किया है। वृत्तियां ही चित्त अथवा मन के द्वार हैं जिनके सहारे हम मन की गहरी सूक्ष्म परतों तक पहुंच सकते हैं। ये मन की क्षमतायें हैं, इनके उपयोग से जीवन को समुन्नत किया जा सकता है। वृत्तियां दो प्रकार से कार्य करती हैं। एक प्रकार की स्मृति में उलझन, उलझाव की स्थिति है, वहीं दूसरे प्रकार की स्मृति सुलझने की अवस्था है। स्मृति सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों होती हैं। सकारात्मक स्मृति में हम उन तथ्यों, क्षणों, अवसरों, कथानकों, व्यक्तियों एवं घटनाओं का स्मरण करते हैं जिससे हमारी ऊर्जा का स्तर अधिक हो जाता है। मन प्रफुल्लित, हर्षित एवं उत्साह, उमंग से भर उठता है। साहस विश्वास की अदम्य ऊर्जा का संचार होने लगता है। वहीं नकारात्मक स्मृति के कारण विपरीत स्थिति निर्मित हो जाती है। हमारी ऊर्जा का स्तर न्यून हो जाता है। साहस, उत्साह ठण्डा पड़ जाता है। महर्षि ने इसे क्लिष्ट और अक्लिष्ट कहा है। जो जीवन में नकारात्मकता लेकर आये अर्थात् दु:ख पहुंचाये ऐसी स्मृति क्लिष्ट कहलाती है। ऐसी स्मृति जो जीवन में सकारात्मकता एवं सुख लेकर आये, उसे अक्लिष्ट स्मृति कहलाती है।

अतः योगसूत्रकार इंगित करते हैं कि स्मृति में हमेशा अच्छे सकारात्मक तथ्यों तथा घटनाओं को ही संचित करना चाहिए। नकारात्मक स्मृतियों का विस्मरण कर देना ही परमकल्याणकारी होता है। सकारात्मक स्मृति से मन या चित्त शांत स्थिर होने लगता है। शांत स्थिर मन से हम स्मरण क्षमता को और भी पैनी बना सकते हैं। वस्तुतः इसके लिए हमें यौगिक तकनीकों का सहारा लेना पड़ेगा।

योग द्वारा स्मृति का विकास–

योग की विभिन्न तकनीकों जैसे- यम-नियम, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, धारणा एवं ध्यान के अभ्यासों को अपनी दिनचर्या में सम्मिलित कर विद्यार्थी अपनी स्मृति-क्षमता का विकास कर सकते हैं। विद्यार्थियों को अपनी जीवनशैली में योग के अनुरूप आहार-विहार, रहन-सहन एवं सोच-विचार को सम्मिलित करना आवश्यक है।

यौगिक आहार-विहार–

स्मृति बढ़ाने में आहार के पोषक तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका है। विद्यार्थियों को संतुलित एवं पोषक तत्वों से युक्त भोजन ग्रहण करना चाहिए। भोजन करते समय भोजन को चबाकर खाना एवं खाते समय मन को शांत रखना चाहिए। आयुर्वेद में भी स्मृति को विकसित करने वाले भोजन को ग्रहण करने के लिए कहा गया है कि आहार वही उत्तम है, जो पुष्ट करने वाला, तुरंत बलकारक, देह धारण करने वाला एवं आयु, तेज, उत्साह, स्मृति, ओज और अग्नि को बढ़ाने वाला हो।[5] जो आहार हम ग्रहण करते हैं वह पचकर रस बनता है। रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा तथा मज्जा से वीर्य का निर्माण होता है।[6] इन धातुओं में वीर्य की मात्रा अत्यल्प होती है। यही वीर्य शक्तिरूप होने पर ओज कहलाता है। इस ओज से ही शरीर तेजवान् बनता है। ओज मस्तिष्क को पुष्ट करने के साथ ही स्मरण शक्ति को ठीक रखता है। वीर्य का रक्षण ब्रह्मचर्य से होता है।[7] ब्रह्मचर्य के तप से ही देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है।[8] ब्रह्मचर्य के अभाव में वीर्य और ओज का क्षय होता है। ओज के क्षय से स्मरण शक्ति कमजोर हो जाती है। इसलिए तीव्र स्मरण शक्ति के लिए संयम का पालन करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। स्मृति क्षमता के लिए नाड़ी संस्थान का सुदृढ़ होना आवश्यक है। नाड़ी संस्थान की सुदृढ़ता संयमी, तपस्वी जीवन शैली पर निर्भर करती है।[9]

आसन-प्राणायाम–

आसनों के अभ्यास से शारीरिक एवं मानसिक दृढ़ता विकसित होती है। योगासनों में सिद्धासन, शशांकासन, वज्रासन, सर्वांगासन व शीर्षासन के अभ्यास से मस्तिष्क की ग्रहण क्षमता एवं स्मृति क्षमता का विकास होता है। आसनों के नियमित अभ्यास से शरीर में हल्कापन आता है।[10] शरीर के हल्केपन से मन भी प्रसन्न रहता है। आसनों में सूर्यनमस्कार को नियमित करने से अनिद्रा दैहिक तनाव, चिंता एवं नकारात्मक भाव कम होते हैं[11]।

सर्वांगासन और शीर्षासन का अभ्यास करने पर हृदय शुद्ध रक्त को मस्तिष्क की ओर भेजता है, जिससे प्रत्येक कोशिका को ऑक्सीजन व ब्लड सप्लाई होने से मस्तिष्क को पोषण मिलता है। इससे पिट्यूटरी व पीनियल ग्लैण्ड भी स्वस्थ होती है और मस्तिष्क सक्रिय होता है, जिससे मानसिक शक्ति, ग्रहण शक्ति व बौद्धिक क्षमता का विकास होता है[12]।

प्राणायाम के नियमित अभ्यास से स्मृति क्षमता पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। योगदर्शन में कहा गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से मन में धारणा की योग्यता विकसित हो जाती है[13]। इसका अर्थ हुआ कि किसी स्थान पर मन को अनायास ही स्थिर किया जा सकता है। प्राणायाम से एकाग्रता का विकास होता है। एकाग्रता स्मृति क्षमता में सहायक होती है। एकाग्र मन से ही मनचाहे विषयों को अपनी स्मृति में हम संचित करके रख सकते हैं। प्राणायाम की विभिन्न विधियां हैं एवं इन सभी विधियों में गहरी श्वास लेना (पूरक), रोकना (कुम्भक) एवं छोड़ना (रेचक) सम्मिलित होता है। प्राणायाम में गहरी श्वास लेने की प्रक्रिया द्वारा भी मस्तिष्क व शरीर के विभिन्न भागों में प्राणशक्ति व आक्सीजन की मात्रा बढ़ने से स्मृति क्षमता में वृद्धि होती है। हैलीफेक्स यूनिवर्सिटी कनाडा के मनोविज्ञान विभाग के डलहौजी ने सेरीब्रम हेमीस्फीयर की क्रियाशीलता पर अध्ययन करने पर पाया कि दाएं-बाएं नासिका छिद्रों के क्रम से चलने वाली श्वसन क्रिया एवं मस्तिष्क के दोनों हेमीस्फीयर में बारी-बारी से चलने वाली क्रियाशीलता में घनिष्ट सम्बन्ध है। जब दाहिनी नासिका रन्ध्र से श्वसन होता है तो बाएं हेमीस्फीयर में ई.ई.जी. द्वारा अधिक क्रियाशीलता परिलक्षित हुई और अब बाऐं नासिका रन्ध्र से श्वसन होता है तो दाऐं हेमीस्फीयर में ई.ई. जी. द्वारा अधिक क्रियाशीलता दिखायी दी। इस क्रियाशीलता से स्पष्ट होता है कि श्वसन क्रिया पर प्राणायाम द्वारा नियंत्रण स्थापित कर हम अपने संवेगों, सुख-दु:ख की अनुभूतियों के लिए जिम्मेदार दायें हेमीस्फीयर एवं बौद्धिक क्षमता, तार्किक क्षमता एवं स्मृति क्षमता के लिए बायें हेमीस्फीयर पर नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं। प्राणायाम के अन्तर्गत आने वाले भ्रामरी प्राणायाम के अभ्यास से हम अपनी मस्तिष्क की क्षमता एवं स्मृति को तीव्र कर सकते हैं। भ्रामरी प्राणायाम के अभ्यास से तनाव एवं दबाव से सम्बन्धित सभी प्रकार के असन्तुलन सुधरते हैं। भ्रामरी प्राणायाम से मन शांत एवं एकाग्र होता है।

धारणा-ध्यान–

प्राणायाम के सतत अभ्यास से मन एकाग्र होने लगता है। प्राणायाम के अभ्यास से धारणा विकसित होती है। मन में धारणा की योग्यता का अर्थ है कि मन किसी विषय अथवा वस्तु पर लम्बे समय तक टिकने लगता है। धारणा मन की एकाग्रता से सम्बन्धित है। जब मन की चंचलता शांत हो जाती है, तब हम किसी भी विषय को भलीप्रकार अपनी स्मृति में संजो सकते हैं।

ध्यान के अभ्यास से तनाव से मुक्ति मिलती है एवं शांति का विकास होता है[14]। स्वामी सत्यानंद सरस्वती लिखते हैं–ध्यान के अभ्यास से शारीरिक और मानसिक विश्राम

मिलता है[15]। मानसिक विश्राम न मिलने से मन में एकाग्रता समाप्त हो जाती है। स्मृति क्षमता के विकास के लिए मस्तिष्क का शांत रहना अत्यन्त आवश्यक है। अतः ध्यान के अभ्यास से विचारों की तीव्रता एवं उलझन दूर होती है। विचारों, कल्पनाओं एवं भावनाओं में मनुष्य की बहुत अधिक मात्रा में ऊर्जा व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है। ध्यान के अभ्यास से विचारों, कल्पनाओं एवं भावनाओं में एक लक्ष्य एवं एकरूपता आ जाती है। मस्तिष्क पर ध्यान का सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। ध्यान के अभ्यास से स्मृति का विकास होता है। कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में हुए शोध के अनुसार ध्यान के अभ्यास से वैचारिक एवं भावनात्मक समस्याऐं कम होती है तथा स्मृति क्षमता में सुधार होता है[16]। सत्यानंद सरस्वती के अनुसार मंत्रोच्चार, योगनिद्रा एवं अन्तर्मौन के अभ्यास से विद्यार्थियों की स्मरण शक्ति का विकास किया जा सकता है[17]।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि अच्छी स्मृति के लिए योग के अभ्यास प्रभावी हैं। स्मृति क्षमता के अभिवर्धन में योग की विभिन्न तकनीकें सहायक हैं। विद्यार्थी अथवा कोई भी किसी भी आयु का व्यक्ति योग की इन निरापद तकनीकों को अपनी दिनचर्या में शामिल कर अच्छी स्मृति का स्वामी बन सकता है।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात् सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। श्रीमद्भगवद्- गीता 2/62
2. क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। श्रीमद्भगवद्गीता 2/63
3. अनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः। योग सूत्र 1/11
4. वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। योग सूत्र 1/5
5. सुश्रुत चिकित्सा, अध्याय 24
6. रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते। मेदसोऽस्थि ततो मज्जास्थि ततो मज्जाः मज्जायाः शुक्र सम्भवः।।
7. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। पातंजलयोगसूत्र
8. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। अथर्ववेद 11/5/19
9. प्रणव पण्ड्या (2008) नवयुग के दायित्व एवं जीवन साधना, प्रकाशक वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुंज, हरिद्वार पृ.सं. 55
10. स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम्। हठप्रदीपिका, 1/17
11. Godse, A.S., Shejwal, B.R., & Godse, A.A. (2015). Effect of suryanamaskar on relaxation among college students with high stress in pune, India. *Int J Yoga*, 8(1), 15-21
12. मकरंद मधुकर गोरे (2009) शरीर विज्ञान और योगाभ्यास, ड्रोलिया पुस्तक भण्डार, हरिद्वार, पृ.सं. 115, 120
13. धारणासु च योग्यता मनसः। पातंजलयोगसूत्र 2/53

14. Oman D, Shapiro SL, Thoresen CE, Plante TG, Flinders T (2008). Meditation lowers stress and supports forgiveness among college students: a randomized controlled trial. *J Am Coll Health.* 56 (5): 569-578.
15. सत्यानंद सरस्वती, (2005) ध्यान तन्त्र के आलोक में, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर बिहार पृ.सं. 20
16. Newberg AB, Wintering N, Khalsa DS (2010). Meditation effects on cognitive function and cerebral blood flow in subjects with memory loss: A preliminary study. *J Alzhei-Mers* 517-526.
17. सत्यानंद सरस्वती, (2006) बच्चों के लिए योग शिक्षा, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर बिहार पृ.सं. 19

✦✦✦

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः। –अथर्व. 2.32.1
उदित और अस्त होता हुआ सूर्य किरणों से रोग–कृमियों को नष्ट करे।

अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि। –अथर्व. 5.23.2
हे सूर्य! इस बालक में प्रविष्ट रोग–कीटाणुओं को नष्ट कर।

ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि। –अथर्व. 5.23.5
जो भी अनेक प्रकार के रोगकृमि हैं उन्हें हम नष्ट कर दें।

दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम्। –अथर्व. 5.23.7
दृष्ट और अदृष्ट सब रोगकृमि नष्ट हो जाएँ।

हतो राजा क्रिमीणाम्। –अथर्व. 5.23.11
रोगकृमियों के राजा को मार दो।

सा त्वं परिष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले। –अथर्व. 6.133.5
हे तगड़ी। मुझे दीर्घायु करने के लिये तू मेरी कमर में बँध।

मुग्धा देवा उत शुनायजन्त–उत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त। –अथर्व. 7.5.5
वे लोग मूर्ख हैं जो यज्ञ में कुत्ते की या गौ के अंगों की बलि देते हैं।

सभा च मा समितिश्चावताम्। –अथर्व. 7.12.1
सभा और समिति नाम की राज्यपरिषदें मुझ राजा की रक्षा करें।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (112-118) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में पुनर्जन्म

–डॉ. अरुण कुमार सिंह
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

डॉ. सुरेन्द्र कुमार
सहायक प्रोफेसर, मानवचेतना एवं योग विज्ञान,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण कालीन समाज में पुनर्जन्म के प्रति पूर्ण आस्था थी। दार्शनिक दृष्टिकोण से भी लोगों का मत था कि मनुष्य अपने जीवन में किए गये शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगता है।[1] इन कर्मों का भोग करने हेतु उसे कई बार जन्म एवं मरण के बंधन में बंधना पड़ता है। अयोध्याकाण्ड में जाबालि के द्वारा पुनर्जन्म का परिस्थिति वशात् खण्डन करने पर वशिष्ठ का राम से यही कथन है कि हे रघुनन्दन! महर्षि जाबालि भी यह जानते हैं कि इस लोक के प्राणियों का परलोक में आना और जाना होता रहता है।[2]

उत्तरकाण्ड में भी कुबेर रावण से कहते हैं कि मनुष्य का लौकिक सुखों का भोग करने वाला शरीर क्षणभंगुर है। इसे प्राप्त कर जो तप का उपार्जन नहीं करता वह मूर्ख मरने के बाद जब उसे अपने दुष्कर्मों का फल मिलता है तो पश्चात्ताप करता है।[3] युद्धकाण्ड में भी प्रसंग आता है कि मनुष्य को धर्म-अधर्म, पापकर्म अथवा पुण्यकर्म के फल इस लोक और परलोक में भी भोगने पड़ते हैं। परन्तु जो कामना विशेष के उद्देश्य से यत्नपूर्वक कर्मों का अनुष्ठान करता है, उसे यहां उसके सुख मनोरथ की प्राप्ति हो जाती है। धर्म आदि के फल की भांति उसके लिए कालान्तर या लोकान्तर की अपेक्षा नहीं होती है।[4]

संक्षेप में उपर्युक्त विवेचन से हम यही कह सकते हैं कि तत्कालीन समाज में पुनर्जन्म के प्रति पूर्ण विश्वास था। इसी विश्वास के फलस्वरूप अयोध्याकाण्ड में सीता राम से कहती है कि आपके साथ वन अनुगमन से परलोक में भी मेरा कल्याण होगा और जन्म-जन्मातर तक आपके साथ मेरा संयोग बना रहेगा। क्योंकि इस लोक में पिता आदि के द्वारा जो कन्या जिस पुरुष को अपने धर्म के अनुसार जल से संकल्प करके दे दी जाती है वह मरने के बाद परलोक में भी उसी की स्त्री होती है।[5]

स्वामी दयानन्द कृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अनुसार जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, वह धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता है और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। जो पूर्वजन्म में किये हुए पाप-पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभाव-युक्त जीवात्मा है, वह पूर्ण शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है, पुनः जल औषधि या प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है, तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होकर पुनः जन्म लेता है जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसा ईश्वर ने वेदों में संकेत किया है तद्नुसार सत्यभाषण करके अनेक सुखों को भोगता है और जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतंग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है।[6]

तत्कालीन समाज में यह मान्यता थी कि मानव पूर्वजन्म में किये गये शुभ या अशुभ कर्मों का फल इस जन्म में अवश्य भोगता है। राम वनगमन के समय राजा दशरथ विलाप करते हैं कि मैंने पूर्वजन्म में अवश्य ही बहुत सी गायों का उनके बछड़ों से वियोग कराया है अथवा अनेक प्राणियों की हिंसा की है। इसी से आज इस जन्म में मेरे ऊपर यह पुत्र-विछोह रूप संकट आया हैं।[7] कैकेयी के हृदय विदारक वचनों को सुनने के बाद भी दशरथ उन सब बातों को श्रवण करने का कारण अपने पूर्व जन्म में किये गये अशुभ कर्मों का फल मानते हैं।[8] एक स्थान पर राम भी लक्ष्मण से कहते हैं कि तात सुमित्रा कुमार! निश्चय ही पूर्व जन्म में मेरी माता ने कुछ स्त्रियों का उनके पुत्रों से वियोग कराया होगा। उसी पाप का यह पुत्र वियोग रूप फल आज उन्हें प्राप्त हुआ है।[9] भारद्वाज ऋषि के द्वारा उचित आतिथ्य ग्रहण करने को भी राम अपने द्वारा पूर्वजन्म में किये गए महान् पुण्यकर्मों का फल मानते हैं।[10] मरणासन्न बाली भी सुग्रीव के प्रति अपने किये गए वैर को पूर्वजन्म में किये गये पाप कर्मों का फल मानता है।[11]

आगामी जन्म

रामायण में पूर्वजन्म के साथ-साथ आगामी जन्म को सुखमय तथा समृद्धिमय बनाने की ओर भी संकेत किया गया है। आगामी जन्म को समृद्धिमय बनाने के लिए पुत्र भी पिता के प्रति सजग रहता था। रामायण में 'पुत्र' शब्द की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि बेटा 'पुम्' नामक नरक से पिता का उद्धार करता है। इसीलिए वह 'पुत्र' कहा जाता है। वही पुत्र है, जो पितरों की सब ओर से रक्षा करता है।[12] पितरों की रक्षा करने से तात्पर्य था कि दान, पुण्य, श्राद्ध, जलांजलि इत्यादि कृत्यों के द्वारा पुत्र पिता को नरक से उबारे। राजकुमार भरत ने राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् उनके आगामी जन्म के समय कल्याणार्थ बहुत सी दास-दासियाँ, सवारियाँ तथा बड़े-बड़े घर ब्राह्मणों को दान में दिये।[13] पुण्यसलिला भागीरथी नदी के किनारे एक रात रुकने का प्रयोजन बतलाते हुए भरत अपने मन्त्रियों से कहते हैं कि मैं चाहता हूँ कि गंगा जी में उतरकर स्वर्गीय महाराज के कल्याणार्थ जलांजलि दूँ।[14]

लोक-परलोक

पुरातन काल से ही हिन्दू समाज पुनर्जन्म में विश्वास करता आया है। यह मान्यता पूर्व से ही चली आ रही है कि मनुष्य के पूर्वकर्मों का भविष्य में और आने वाले जन्म से भी बहुत प्रभाव रहता है। वे यह मानते थे कि मनुष्य के सत्-असत् कर्मों के अनुसार ही उसे इहलोक और परलोक में सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक आदि रूप फल मिलता है। रामायण-कालीन समाज में भी यह मान्यता थी और यह विश्वास था कि यदि वे अच्छे कर्म करेंगे तो उसका परिणाम शुभ ही होगा। वाल्मीकि रामायण में आये हुए प्रसंगों के आधार पर लोक-परलोक आस्था का विवेचन निम्नलिखित है –

इहलोक एवं परलोक

रामायणकार ने इहलोक के ऊपर एक अन्य लोक का उल्लेख कई स्थानों पर किया है और उसे परलोक, परत्र तथा स्वर्ग की संज्ञा दी है। उन्होंने इस लोक को इहलोक कहकर उससे सम्बन्ध रखने वाले कर्मों को ऐहलौकिक कर्म एवं परलोक से सम्बन्ध रखने वाले कर्मों को पारलौकिक कर्म कहा है। अयोध्याकाण्ड में कैकेयी के ऊपर क्रोधित होते हुए राजा दशरथ कहते हैं कि कैकेयी मैंने तेरे साथ जो पाणिग्रहण संस्कार किया है और तुझे साथ लेकर अग्नि की परिक्रमा की है, तेरे साथ का वह सारा सम्बन्ध इहलोक एवं परलोक के लिए भी त्याग देता हूँ।[15] भरत भी अपने मातुल गृह से लौटने के बाद कैकेयी को फटकारते हुए कहते हैं कि इकलौते बेटे वाली सती-साध्वी कौशल्या का तूने उनके पुत्र से विछोह कराया, इसलिए तू सदा ही इहलोक व परलोक में भी निरन्तर दुःख ही पायेगी।[16]

राम के साथ जाने का आग्रह करती हुई सीता भी तत्कालीन समाज में व्याप्त इहलोक एवं परलोक की आस्था को और अधिक स्पष्ट करती हैं, वे कहती हैं कि नारियों के लिए इहलोक तथा परलोक में एकमात्र सदा पति ही आश्रय देने वाला है। पिता, पुत्र, माता, सखियाँ, यहाँ तक कि अपना यह शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है।[17] अन्यत्र भी सीता पुनः राम से कहती है कि पिता, माता, पुत्र ये परिमित सुख प्रदान करते हैं, परन्तु पति अपरिमित सुख का दाता है। उसकी सेवा से इहलोक तथा परलोक दोनों में ही कल्याण होता है। अतः ऐसी कौन सी स्त्री है जो अपने पति का सत्कार नहीं करेगी।[18]

रामायणकालीन समाज के जनमानस में यह भावना व्याप्त थी कि विवाहोपरान्त पति एवं पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का होता है। अयोध्याकाण्ड में ही सीता राम से कहती है कि आपके साथ अरण्य अनुगमन से परलोक में भी मेरा कल्याण होगा और सदा आपके साथ मेरा संयोग बना रहेगा। जन्म-जन्मान्तरों के संयोग की पुष्टि करने के लिए सीता राम को यशस्वी ब्राह्मणों के मुख से सुनी हुई पवित्र श्रुति को सुनाती हुई कहती हैं कि इस लोक में पिता आदि के द्वारा जो कन्या जिस पुरुष को अपने धर्म के अनुसार जल से संकल्प करके दी जाती है वह मरने के बाद परलोक में भी उसी की स्त्री होती है।[19] वाल्मीकि रामायण में एक स्थान पर जब जाबालि ऋषि राम को दण्डकारण्य से अयोध्यानगरी वापस

ले जाने का प्रयत्न करते हुए राम के लौकिक एवं पारलौकिक विश्वास में यह कहकर ठेस लगाने का प्रयत्न करते हैं कि राम अपने मन में यह निश्चय कीजिए कि इस लोक के सिवाय कोई दूसरा लोक नहीं है। अतः वहां फल भोगने के लिए धर्म आदि के पालन की आवश्यकता भी नहीं है। आप जो प्रत्यक्ष राज्यलाभ है, उसका आश्रय कीजिये, परोक्ष पारलौकिक लाभ को पीछे धकेल दीजिये।[20] तब जाबालि के उक्त नास्तिकता पूर्ण वचनों को दृढ़ता पूर्वक उत्तर देते हुए राम उनसे कहते हैं कि जाबालि आपके सिवाय पहले के श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने इहलोक एवं परलोक में तो पूर्ण आस्था प्रदर्शित की है परन्तु उन्होंने इन दोनों लोकों की फल कामना का परित्याग करके वेदोक्त धर्म समझकर सदा ही बहुत से शुभ कर्मों का अनुष्ठान किया है, अतः जो भी ब्राह्मण हैं, वे वेदों को ही प्रमाण मानकर स्वस्ति (अहिंसा, सत्य आदि) कृत्य (तपदान और परोपकार आदि) तथा हुत, (यज्ञ-भाग) आदि कर्मों का सम्पादन कर इहलोक एवं परलोक में पूर्ण रूप से आस्था व्यक्त करते हैं।[21] राम को जाबालि से कष्ट जानकर वशिष्ठ भी राम से कहते हैं कि राम तुम जाबालि के इहलोक एवं परलोक के प्रति अनास्थावान् वचनों से रुष्ट न होओ, स्वयं जाबालि भी हार्दिक रूप से यह मानते हैं कि इस लोक में प्राणियों का परलोक में जाना और आना होता ही रहता है।[22]

स्वर्ग-नरक

वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में यह व्यक्त करने का प्रयत्न किया है कि तत्कालीन समाज में परलोक से स्वर्ग का ही अर्थ नहीं लिया जाता है, अपितु स्वर्ग और नरक दोनों ही परलोक के अन्तर्गत आते हैं। शुभ कर्मों के द्वारा व्यक्ति स्वर्ग लोक को प्राप्त करता था तथा पाप कर्मों से नरक को प्राप्त करता था। स्वर्ग-नरक प्राप्ति को धारणा के कारण ही मनुष्य पाप कर्मों का परित्याग करता हुआ शुभ कर्म ही करता था। अयोध्याकाण्ड में राम लक्ष्मण से कहते हैं कि लक्ष्मण यदि मैं कुपित हो जाऊं तो अपने बाणों द्वारा अकेला ही अयोध्यापुरी तथा समस्त भूमण्डल को निष्कण्टक बनाकर अपने अधिकार में कर लूंगा परन्तु पारलौकिक हित साधन में बल-पराक्रम कारण नहीं होता है। इसीलिए मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ। लक्ष्मण मैं परलोक (स्वर्ग-नरक) से डरता हूँ।[23]

अयोध्याकाण्ड में सुमित्रा राम वनगमन से दुःखी विलाप करती हुई कौशल्या को सान्त्वना देती हुई कहती है कि बहिन, जो राज्य छोड़कर अपने महात्मा पिता को भली भांति सत्यवादी बनाने के लिए वन में चले गये हैं, वे तुम्हारे महाबली श्री राम उस उत्तम धर्म में स्थित हैं, जिसका सत्पुरुषों ने सर्वदा सम्यक् रूप से पालन किया है। जो इहलोक के साथ परलोक में भी स्वर्ग रूप सुखमय फल प्रदान करने वाला है।[24]

स्वर्ग एवं नरक प्राप्ति की विवेचना करती हुई सीता भी राम से कहती है कि उत्कृष्ट गुण और जाति आदि की दृष्टि से जो नारी पति की सेवा नहीं करती उसे पापियों को मिलने वाली गति नरक आदि की प्राप्ति होती तथा जो अन्यान्य देवताओं की पूजा और वन्दना से

दूर रहती है, वह नारी भी केवल पति की सेवामात्र से ही उत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेती है।[25]

अयोध्याकाण्ड में स्वर्ग प्राप्ति के कतिपय साधनों की ओर संकेत किया है, जैसे शुभ कारक यज्ञों का अनुष्ठान कर पर्याप्त दक्षिणा देने से, भरण-पोषण के योग्य परिजनों का भरण-पोषण, प्रजाजनों का भली-भांति पालन तथा प्रजा से धर्म के अनुसार ही कर आदि रूप धन लेने से मनुष्य को स्वर्ग-लोक की प्राप्ति होती थी।[26] राम भी एक स्थान पर मानते हैं कि गुरुजनों की सेवा का अनुसरण करने से स्वर्ग, धन धान्य, पुत्र और सुख कुछ भी दुर्लभ नहीं है। माता-पिता की सेवा में लगे रहने वाले महात्मा पुरुष देवलोक, गन्धर्वलोक ब्रह्मलोक, गौलोक तथा अन्य उत्तम लोकों को भी प्राप्त कर लेते हैं।[27] अन्यत्र भी एक स्थान पर राम जाबालि से स्वर्ग एवं नरक के बारे में बताते हुए कहते हैं कि एक मनुष्य सम्पूर्ण जगत् का पालन करता है और एक केवल अपने कुल का पालन करता है। इनमें प्रथम लोक में प्रतिष्ठित होता है तथा द्वितीय नरक में डूबता है।[28] इससे यह सिद्ध होता है कि रामायण-कालीन समाज का पुनर्जन्म में पूर्ण विश्वास था।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियां

1. कस्यचिन्न हि दुर्बुद्धेश्यन्दयो जायते मतिः।
   यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्तुते।। वा.रा. उत्तर. 15/25
2. क्रुद्धमाज्ञाया रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
   जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम्।। वा.रा. अयो. 110/1
3. अध्रुवे हि शरीरे यो न करोति तपोऽर्जनम्।
   स पश्चात् तप्यते मूढ़ो मृतो गत्वाऽऽत्मनो गतिम्। वा.रा. उत्तर. 15/22
4. ऐहलौकिकपारक्यं कर्म पुंभिर्निषेव्यते।
   कर्माण्यपि तु कल्यानि लभते काममास्थितः।। वा.रा. युद्ध 64/9
5. वा.रा. अयो. 29/18
6. आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
   धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत।। अथर्व. 5/1/2
7. अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव।
   दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुरा कृतमिवाशुभम्।। वा.रा. अयो. 12/79
8. मन्ये खलु मया पूर्व विवत्सा बहवः कृता।
   प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम्।। वा.रा. अयो. 39/4
9. नूनं जात्यन्तरे तात स्त्रियः पुत्रैर्वियोजिता।
   जनन्या मन सौमित्रे तदद्यैतदुपस्थितम्।। वा.रा. अयो. 53/19
10. उपावृत्ते मुनौ तस्मिन् रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
    कृतपुण्याः स्म भद्रं ते मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते।। वा.रा. अयो. 55/11

11. सुग्रीव दोषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्विषात्।
कृष्यमाणं भविष्येण बुद्धिमोहेन मां बलात्।। वा.रा. किष्कि. 12/3
12. पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितृन् य पाति सर्वतः।। वा.रा. अयो. 107/12
13. दासीर्दासांश्च यानानि वेश्मानि सुमहन्ति च।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदेहिकम्।। वा.रा. अयो. 77/3
14. दातुं च तार्वादच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः।
और्ध्वदेहनिमित्तार्थमवतीर्योदकं नदीम्।। वा.रा. अयो. 83/24
15. अगृह्णां यच्च ते पाणिमग्नि पर्यणयं च यत्।
अनुजानामि तत् सर्वमस्मिंल्लोके परत्र च।। वा.रा. अयो. 42/8
16. एकपुत्रा च साध्वी च विवत्सेयं त्वया कृता।
तस्मात् त्वं सतत दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे।। वा.रा. अयो. 74/29
17. न पिता नात्मजो वात्मा न माता च सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा।। वा.रा. अयो. 27/6
18. मितं ददाति हि पिता, मितं भ्रातामितं सुतः।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत्।। वा.रा. अयो. 39/30
19. प्रेत्यभावे हि कल्याण संगमो मे सदा त्वया।। वा.रा. अयो. 29/17-18
20. स नास्ति परमित्येतत् कुरु बुद्धि महामते।
प्रत्यक्षं यत् तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु।। वा.रा. अयो. 108/17
21. त्वत्ते जनाः पूर्वतरे द्विजाश्च।
शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः।
छित्त्वा सदेमं च परं च लोकं।
तस्माद् द्विजाः स्वस्तिकृतं हुतं च।। वा.रा. अयो. 109/35
22. कुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम्।। वा.रा. बाल. 110/1
23. एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
तरेयमिषुभिः क्रुद्ध ननु वीर्यमकारणम्।।
अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानथ।
तेन लक्ष्मणं नाद्यामात्मानमभिषेचये।। वा.रा. अयो. 53/25-26
24. यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः।
साधु कुर्वन् महात्मानं पितरं सत्यवादिनम्।।
शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत् प्रेत्य फलोदये।
रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन।। वा.रा. अयो. 44/3-4
25. व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा।
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत्।।
भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्।
अपि या निर्नमस्कारा निर्व्रत्ता देवपूजनात्।। वा.रा. अयो. 24/25-26

26. धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः।
भृत्यानां भरणात् सम्यक् प्रजानां परिपालनात्।
अर्थादानाश्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गतः।। वा.रा. अयो. 105/32-33
27. वा.रा. अयो. 29/17-18
28. एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम्।
मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते।। वा.रा. अयो. 109/15

✦✦✦

विद्म ते सभे नाम नरिष्ट नाम वा असि। -अथर्व. 7.12.2
हे राजसभा! हम तेरे स्वरूप को जानते हैं, तू अहिंसनीय है।

सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु। -अथर्व. 7.51.1
मित्र को मित्र की भलाई करनी चाहिये।

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय। -अथर्व. 7.80.1
देखो, यह पूर्णमासी आगे, पीछे, मध्य में सर्वत्र प्रकाशपूर्ण होकर विजयोलास से जगमगा रही है।

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। -अथर्व. 10.8.32
देखो, प्रभु के काव्य को देखो, न मरता है, न कभी पुराना होता है।

यावद् दाताभिमनस्येत् तन्नातिवदेत्। -अथर्व. 11.3[1].25
दाता प्रसन्नतापूर्वक जितना देना चाहे उससे अधिक न मांगे।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। -अथर्व. 11.5.3
आचार्य उपनयन संस्कार करके ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करता है।

तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः।
जब ब्रह्मचारी स्नातक बनता है तब देवता उसके दर्शन को आते हैं।

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् विभर्ति। -अथर्व. 11.5.24
ब्रह्मचारी देदीप्यमान् ज्ञान को अपने अन्दर धारण किये होता है।

दिवमारुहत् तपसा तपस्वी। -अथर्व. 13.2.25
तपस्वी अपनी तपस्या से ऊँचा उठ जाता है।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (119-124) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में योगासनों के शिक्षण-सिद्धान्त व उनकी उपादेयता

–डॉ. राकेश गिरि
एसोसियेट प्रोफेसर

जयदेव (शोधार्थी)
जन्मेजय (शोधार्थी)
मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मनुष्य जीवन बड़ा ही दुर्लभ है, भारतीय प्राच्य-विद्याओं के शास्त्रों ने इसे अन्य जीव योनियों से श्रेष्ठ बताया है, क्योंकि वह अपने कर्त्तव्यों के प्रति सचेत और शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य का चिन्तन-मनन करने के कारण ही मानव से महामानव कहलाता है। **जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।**[1] अर्थात् मनुष्य जन्म से शूद्र होता है संस्कार (श्रेष्ठ कर्म) के द्वारा श्रेष्ठ बनता है। इसी कारण वह अन्यों से भिन्न है तथा जीवन के अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त करना चाहता है। सामवेद की ऋचा-**यो राजा चर्षणीनां यातारथेभिर-ध्रिगुः**[2] में 'रथेभिः' शब्द इस बात का द्योतक है कि जब तक जीवात्मा शरीर में रहता है तभी तक योग साधनाओं के कारण परमात्मा को पा सकता है। महर्षि चरक के कथनानुसार **धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्**[3] पुरुषार्थ चतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) हेतु शरीर का स्वस्थ होना अति आवश्यक है। कहावत है शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् अर्थात् इन सबकी प्राप्ति का आधार शरीर ही है। अतः शरीर को स्वस्थ रखना हमारा परम कर्त्तव्य है। प्रसिद्ध कहावत–"पहला सुख निरोगी काया" भी आरोग्य की ओर इंगित करती है। हठयोग काया साधन प्रधान पद्धति है। जिसे स्वामी स्वात्माराम ने **केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते**[4] राजयोग (मोक्ष) की प्राप्ति हेतु उपाय के रूप में उपदेशित किया है। वेदों के अनुसार **इयं ते यज्ञिया तनूः**[5] मानव शरीर योग यज्ञ का साधन है। वेद के इस तथ्य को योग बीज में **ज्ञाननिष्ठोविरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः। बिना देहेऽपि योगेन मोक्षं लभतेविधे।**[6] इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि हे विधे! बिन इस मानव देह के अधिकृत योग के ज्ञानी, विरक्त, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ भी मोक्ष नहीं पा सकते; इससे यह सिद्ध होता है कि मानव देह में ही योग साधना सम्भव है। अतः योग मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है। योग के मौलिक स्वरूप का अध्ययन एवं काया साधन विभिन्न शास्त्रों एवं हठयोग के ग्रन्थों प्राचीन उपनिषद्,

भगवद्गीता, पातंजल योगसूत्र, गोरक्ष संहिता, गोरक्ष शतक, सिद्ध सिद्धान्त संग्रह, हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता तथा शिव संहिता इत्यादि में वर्णित है।

महर्षि घेरण्ड के अनुसार **नास्ति योगात्परं बलम्**[7] योग के समान कोई शक्ति नहीं है। इन ग्रन्थों में योग साधना पद्धति का भेदों सहित वर्णन मिलता है, सभी का ध्येय दुःख और अज्ञान से सर्वथा मुक्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना है।

अथर्ववेद में प्रयुक्त **अष्टधा युक्तो वहति**[8] 'अष्टधा' 'अष्टायोगैः' पदों का अर्थ भाष्यकार क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने पातंजल योग दर्शन में निर्दिष्ट यम-नियम आदि अष्ट योगांगों को ग्रहण किया है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में योगांगों में आसन की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हठयोगिक ग्रन्थों के अनुसार **कुर्यात्तदासनं स्थैयमारोग्यं चाङ्गलाघवम्**[9] आसन के अभ्यास से शरीर में स्थिरता, आरोग्यता (निरोग) तथा शरीर में हल्कापन आता है। **आसनेन भवेद्दृढम्**[10] आसन से शरीर दृढ़ होता है।

आसन[11] शब्द संस्कृत भाषा के 'आस्' धातु + ल्युट् प्रत्यय से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है-बैठने का स्थान अर्थात् "शरीर के बैठने की स्थिति"। वेदों में भी आसन का प्रयोग शान्त (मौन रहकर) बैठने के लिए वर्णित है जैसे-अध्यापन के लिए निषीदत **विश्वे देवास आ गत शृणुताम इमं हवम् एवं बर्हिर्निषीदत**[12], संसीदस्व **सँसीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः**[13] पदों का प्रयोग हुआ है, जो अच्छी प्रकार सुखपूर्वक बैठने का वाचक है।

महर्षि पतंजलि के कथनानुसार **स्थिर सुखमासनम्**[14]—आसन शरीर की विशेष स्थिति जिसे विभिन्न शारीरिक अंगों की गतियों की सहायता से प्राप्त किया जाता है **प्रयत्न शैथिल्यानंतसमापत्तिभ्याम्**[15], जिसमें प्रयत्न की शिथिलता होती है और मन को अनन्त पदार्थ पर जैसे अपनी श्वास, नीला आकाश, ब्रह्म इत्यादि पर एकाग्र करना होता है तथा जिसका निरन्तर व दीर्घकालीन अभ्यास शारीरिक व मानसिक स्थिरता व शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक स्तर पर सुख की अनुभूति मे योगदान करता है।

भारतीय उपनिषदों तेजोबिन्दु उपनिषद्, अमृतनादोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, योगचूडामणि उपनिषद्, ध्यानबिन्दु उपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद् एवं मण्डल ब्रह्मणोपनिषद् आदि में भी पातंजल सम्मत 'स्थिर सुखम् आसनम्' परिभाषा के समान ही है।

गीता के अनुसार **समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥**[16], स्थिर होकर काय (पीठ), गर्दन और मस्तक को सम अर्थात् सीधी खड़ी रेखा में रखकर दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर टिका कर आसन पर बैठना चाहिए।

महर्षि घेरण्ड के अनुसार **आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः। चतुरशीति**

लक्षाणि शिवेन कथितानि च॥[17], संसार में जितने जन्तु हैं, उतनी ही संख्या आसनों की है। भगवान् शिव ने पहले चौरासी लाख आसन कहे। उनमें से चौरासी आसन श्रेष्ठ हैं। **तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं क्रतम्। तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम्॥**[18] उन चौरासी आसनों में भी बत्तीस आसनों को अति विशिष्ट और अधिक शुभ समझना चाहिये।

महर्षि घेरण्ड ने आसन को षट्कर्म के पश्चात् दूसरे स्थान पर रखा है, लेकिन स्वामी स्वात्माराम ने आसन को प्रथम स्थान क्रम में वर्णित किया है। उन्होंने 15 आसनों को प्रमुख बताया है, जिससे शरीर में स्थिरता, आरोग्यता एवं हल्कापन आता है। महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग **यमनियमासनप्राणायाम प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥**[19] में यम-नियम के पश्चात् आसन को तीसरे स्थान क्रम पर रखा है। तथा स्थिर होकर सुखपूर्वक बैठने की स्थिति को ही आसन बताया है। इन्होंने किसी विशेष आसन का नाम नहीं बताया है।

शिव संहिता में चार आसनों **सिद्धासनं ततः पद्मासनं चोग्रं च स्वस्तिकम्।**[20] सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन, स्वस्तिकासन को उत्तम माना है। मुख्यतः योगासानों को उद्देश्य की दृष्टि से तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है–

1. ध्यानात्मक आसन

इस वर्ग के आसन शारीरिक स्थिति को दीर्घ काल तक स्थिर रखते हैं, इसलिए इन आसनों का अभ्यास ध्यान के अन्तर्गत करना आवश्यक है, ताकि स्थिर होकर ध्यान किया जा सके। जैसे पद्मासन, सिद्धासन स्वस्तिकासन इत्यादि। इस वर्ग के आसन प्राणायाम व कुण्डलिनी योग के लिए भी आवश्यक हैं।

2. विश्रामात्मक आसन

इस वर्ग के आसन से शरीर व मन को पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त होती है- जैसे शवासन, मकरासन। इन आसनों को शरीर संवर्धनात्मक आसनों के अभ्यास के मध्य विश्राम हेतु प्रयोग में लाया जाता है।

3. संवर्धनात्मक आसन

इस वर्ग के आसन शरीर संवर्धन व संरक्षण हेतु किये जाते हैं। ये आसन मांसपेशियों के समन्वय को विकसित करते हैं तथा उनका व्यायाम कराते हैं, जिससे स्थिर आसनों का निर्वाह होता है, इसलिए आसन को धीरे से तथा स्थिर रूप से प्राप्त करते हैं तथा उसे रोकने के पश्चात् धीरे-धीरे पूर्व स्थिति में आते हैं।

अभ्यास के आधार पर आसनों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है-

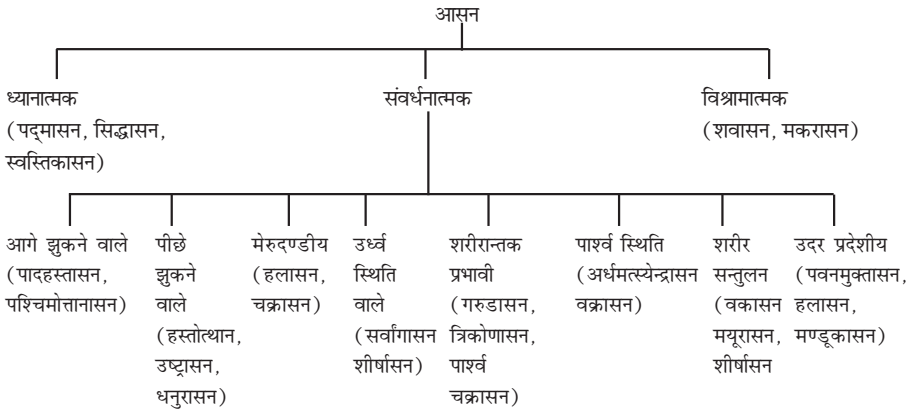

योगासनों के प्रयोगात्मक सिद्धान्त

आसनों को चिकित्सीय दृष्टि से प्रयोग में लाते समय निम्नलिखित सिद्धान्तों का पालन करना अति आवश्यक है–

1. **गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेवसदाभ्यसेत्।**[21] अनुभवी व योग्य योग चिकित्सक (योग गुरु) के निर्देशन में योगाभ्यास सीखें।
2. आसन से पूर्व षट्कर्मों का उचित अभ्यास कर लेना चाहिए।
3. आसन का अभ्यास स्वच्छ वातावरण (स्वच्छ वायु व मनोनुकूल स्थान, आरामदायक चटाई, ढीले कपड़े व शौच आदि से निवृत्त होकर) करना चाहिए।
4. आसनों के अभ्यास से पहले अनुकूलन अभ्यास क्रम या फिर सूक्ष्म व्यायाम, तत्पश्चात् सरल आसन तथा उसके बाद पूर्ण आसनों का अभ्यास करें।
5. प्रत्येक आसन के बाद शिथिलीकरण का अभ्यास करे, जिससे प्रभावित अंगों की तरफ प्राण संचार सुचारू रूप से हो सके अर्थात् प्रत्येक आसन के बाद शवासन या मकरासन में कुछ देर विश्राम करें।
6. आसन करते समय श्वसन क्रिया का सिद्धान्त भी अपनाना चाहिये। यदि शारीरिक गति पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की ओर हो, तो श्वास छोड़ते हुए आसन करें और यदि शारीरिक गति गुरुत्वाकर्षण शक्ति के विरोधाभास में हो तो श्वास लेते हुए आसन करे तथा आसन के रुकने/रोकने की स्थिति में श्वास-प्रश्वास सामान्य रखनी चाहिये।
7. योगासन में शारीरिक गतियों में सन्तुलन बनाकर रखना चाहिए अर्थात् यदि कोई आसन बायीं तरफ से किया जाता है तो उसे दायीं तरफ से भी करना चाहिए। जैसे-वक्रासन, कटि चक्रासन और यदि उसे आगे झुकने के आसन करते हैं, तो पीछे झुकने के भी आसन उतनी ही बार करें।
8. शल्य चिकित्सा या प्रसव के एक महीने तक योगाभ्यास नहीं करना चाहिये।

9. भोजन के तुरन्त बाद आसनों का अभ्यास नहीं करना चाहिए। भोजन के 3-4 घण्टे बाद अभ्यासरत होना चाहिए।
10. आसनों के अभ्यास के तुरन्त बाद भोजन, अयौगिक व्यायाम एवं स्नान नहीं करना चाहिए।
11. योगाभ्यास के समय बातचीत में व्यस्त नहीं रहना चाहिए।
12. आसन में रुकने की स्थिति में अपने मन को किसी अनन्त पदार्थ (अपनी श्वास प्रश्वास, ब्रह्म, नीला आकाश इत्यादि) पर केन्द्रित करना चाहिए।
13. आसनों का अभ्यास करते समय आसन में पहुँचने, रुकने व वापिस आने में किया गया प्रयास शिथिलतापूर्वक होना चाहिए।
14. आसनों का अभ्यास दिनचर्या के नियत समय पर तथा नियमितता के साथ बिना किसी व्यवधान के करना चाहिए।

आधुनिक परिवेश में योगासनों की महत्ता और बढ़ गयी है, जैसे–

1. विद्यालयी शिक्षा क्षेत्र

आधुनिक विद्यालयी शिक्षा में सभी विद्यार्थी अच्छे खिलाड़ी नहीं बन सकते, लेकिन उनके शरीर को समग्र स्वास्थ्य प्रदान करने हेतु योग एक समुचित माध्यम है। जिसके शिक्षण व अभ्यास से उनके शारीरिक व मानसिक विकास को पूर्ण गति देकर विकसित किया जा सकता है तथा सर्वांगीण व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है। योगासनों का अभ्यास विद्यार्थियों में खेलकूद की निपुणता में वृद्धि व मानसिक क्षमताओं (स्मृति, सीखने की क्षमता व मानसिक एकाग्रता) में वृद्धि करने में भी सकुशल योगदान कर सकता है।

2. सार्वजनिक क्षेत्र

आधुनिक जीवन की व्यस्तता व भौतिक सुख संसाधन मानवीय शरीर के व्यायाम की कमी में वृद्धि करते हैं तथा स्वास्थ्य संरक्षण व संवर्द्धन में कमी करके स्वस्थता को प्रभावित करते हैं। भारत सरकार सार्वजनिक क्षेत्रों में योग केन्द्रों की स्थापना कर सभी नागरिकों के लिये योगासनों का अभ्यास करवाकर उन्हें चुस्त-दुरुस्त व उनकी दैनिक कार्य क्षमता में वृद्धि करवा सकती है।

3. चिकित्सीय क्षेत्र

अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ है कि योगासनों का अभ्यास मानवीय शरीर के स्वास्थ्य संरक्षण एवं संवर्द्धन के साथ-साथ कई व्याधियों के निराकरण में योगदान देता है, विकृत जीवन शैली से उत्पन्न व्याधियों (दमा, मधुमेह, आमाशयी, अम्लता, सन्धिवात, कटि वेदना, ग्रीवा वेदना इत्यादि) के निराकरण में योगासनों का अपना समुचित योगदान है।

4. आध्यात्मिक क्षेत्र

पातंजल योगसूत्र, हठयोग ग्रन्थों, गीता, उपनिषद् इत्यादि में हमें आसनों का प्रमुख उद्देश्य मिलता है, जो कि इस प्रकार है- आध्यात्मिक साधना हेतु शरीर को सुदृढ, सबल, स्थिर, निरोग व लघुतापूर्ण बनाना है, जिससे साधक दीर्घ समयावधि तक प्राणायाम, ध्यान व समाधि की क्रियाएँ बिना किसी व्यवधान के कर सके।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि योगासन योग साधना का महत्वपूर्ण अंग है, जिससे शरीर के निरोग होने के साथ-साथ मन भी नियन्त्रित होकर स्वस्थ होता है। आसन आध्यात्मिक स्तर में भी सहायक सिद्ध होता है। शास्त्रों के मतानुसार आसन शरीर व मन की स्थिरता हेतु एक महत्वपूर्ण कड़ी है। आधुनिक परिवेश में भी विद्यार्थी, युवा, प्रौढ़ व वृद्ध भी योगासनों का सैद्धान्तिक नियमित अभ्यास करके स्वास्थ्य संरक्षण, संवर्धन व रोगोपचार में भी उचित लाभ प्राप्त कर सकते हैं। अतः कहा जा सकता है कि योगासनों के शिक्षण सिद्धान्तों की अत्यन्त आवश्यकता है जो हमें गलत अभ्यास के दुष्परिणाम से बचा सकते हैं।

सन्दर्भ एवं पाद-टिप्पणियाँ

1. अज्ञात
2. सामवेद 933
3. चरक सूत्र 1/15
4. हठ योग प्रदीपिका 1/2
5. यजुर्वेद 4/13
6. योगबीज 31
7. घेरण्ड संहिता 1/4
8. अथर्ववेद 13/3/19
9. हठयोग प्रदीपिका 1/17
10. घेरण्ड संहिता 1/10
11. संस्कृत-हिन्दी-कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृष्ठ 167
12. ऋग्वेद 2/41/13
13. यजुर्वेद 11/37
14. योगसूत्र 2/46
15. वही, 2/47
16. गीता 6/13
17. घेरण्ड संहिता 2/4
18. वही, 2/2
19. योगसूत्र 2/29
20. शिव संहिता 3/100
21. हठ योग प्रदीपिका 1/14

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (125-131) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

उपनिषत्सु मूल्यपरकशिक्षायाः अवधारणा

–प्रो. राम सुमेर यादव

संस्कृत विभाग,

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

वैदिकवाङ्मयं संस्कृतसाहित्यस्यामूल्यो निधिः। भारतीयसंस्कृतेः मूलभूतानां वेदानामन्तिमो शब्दराशिः उपनिषदेव ह्यवबुध्यते। भारतीयचिन्तनपरम्परायां उपनिषदां वैशिष्ट्यं विद्यते। तत्र हि साहित्य–विज्ञान–दर्शन–कुलधर्म–जातिधर्म–मानवधर्म–समाजधर्म–राजनीति–अर्थनीति स्वास्थ्य नीतिव्यवहारनीत्यादीनां निर्माणं विकासः प्रसारश्च परमादर्शरूपेण समजायत्। उपनिषदः भारतीयसंस्कृतेः मूल्यानाञ्च प्राणस्वरूपाः राराजन्ते।

उपनिषदां परिशीलनेन परिलक्ष्यते ज्ञानस्याजस्रस्रोतसि उपनिषदः जीवनोपयोगिमूल्य रत्नानि भूत्वा रत्नाकररूपेण तिष्ठन्ति। येषामालोके विद्वद्भिः सह जनसामान्यस्यान्तरात्मनः आलोकिताः भवन्ति। उपनिषद्साहित्यं नैतिकोपदेशानां जीवनमूल्यानाञ्च मानससरोवरमिवाभाति यतः जीवनमूल्यस्वरूपाः सरितः निर्गत्य मानवानां कृते ऐहिककल्याणमामुष्मिकमङ्गलं सम्पादयितुं सततं प्रवहन्ति। उपनिषद् शब्दः उप+नि उपसर्गपूर्वक षद्लृ धातोः क्विप् प्रत्ययपूर्वकात् निष्पद्यते, षद्लृ विशरणगत्यवसादानेष्वित्यनुसारेण षद्लृ धातुः विशरणगतिशिथिलीकरणेति त्रिष्वर्थेषु प्रयुक्ता भवति। कठोपनिषदि शाङ्करभाष्ये जगद्गुरुशङ्कराचार्येण त्रयाणामर्थानां विवेचनं प्रस्तुतम्। सांसारिक विशरणात् ..... उपनिषद् इत्युच्यते[1] अर्थात् जगतः प्रपञ्चस्य हेतुभूतायाः अविद्यायाः नष्टत्वात् विशरणम्, परमानन्दस्य हेतुभूतायाः ब्रह्मज्योतेः प्राप्तित्वात् गतिः तथा च ब्रह्मज्योत्या जन्ममरणादिदुखत्रयाणां शमनत्वात् अवसादनमित्यादयः त्रयो ह्यर्थाः अपेक्षिताः वर्तन्ते। उपनिषद्शब्दः ब्रह्मविद्यायाः वाचकः अध्यात्मविद्या उपनिषदः आत्मा वर्तते। आत्मेति शब्दात् ब्रह्मेवापेक्षितः "अयमात्मा ब्रह्म"[2] नैतिकपक्षतानेकेषु स्थलेषु राराजते। एतासु नीतिपरक– सूक्तयः मूल्यपरकोपदेशाः उपलभ्यन्ते–

सौम्येदमग्रआसीदेकमिवाद्वितीयम्।[3] तत् ब्रह्म तत्त्वमसि[4] तथा च अहं ब्रह्मास्मि[5] अथ च "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।" तस्य ब्रह्मणः सृष्टिरेव–सोऽकामयत्। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्चासच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चाकृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति।[6] सर्वासूपनिषत्सु विविधमूल्यानि विद्यन्ते। औपनिषदिकवाङ्मये शिक्षायाः उज्ज्वलतमं तत्त्वं समग्ररूपेण समाहितं वर्तते। उपनिषद्युगीना शिक्षापद्धतिः स्वत एव परममूल्यस्वरूपा

वर्तते उपनयनसंस्कारेण समापन-समावर्तन-संस्कारेण च द्वावेव सुसंकारितरीत्या भवन्नासीत्। येन बाल्यावस्थायामेव मानवीयजीवनमूल्यानि स्थापितानि। उपनिषद्काले छात्राः गृहात् दूरं उषित्वा गुरुं निकषोपवसन्ति स्म। शिक्षोपनयनसंस्कारात् प्रारब्धासीत्।

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणः कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्रः उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः।।[7]

अनेनोपनयनेन शिष्यस्याचार्येण सह सम्बन्धः स्थापितो आसीत्। पितरौ केवलं शरीरमेव जन्मदातारावास्ताम्। स हि विद्यातस्तं जनयति यच्छ्रेय जन्म।

शरीरमेव माता पितरौ जनयत्।।[8]

एवमाचार्यकुले शिष्यस्यापरः जन्म भवति। अतः पिता गुरुः माता विद्यारूपेण भवति। समानावस्थायाः सहपाठिभिः सह वसन्तः नियमानुशासनप्रेमादयः स्वभावतः विकसिताः अभवन्। विद्योपार्जनेन सह तस्य मनसि दायित्वबोधः स्वतः अभवत्।

भिक्षाटनस्य महत्वम्

आचार्यकुलवासिनां ब्रह्मचारिणां कृते भिक्षाटनमनिवार्यमासीत्। ते प्रतिग्राममुपगम्य भिक्षाटनमकुर्वन्। भिक्षाचर्यायामस्यां भाविजीवनस्य कृते मानवीयमूल्यानां स्थापनमभवत्। तत्र विनम्रता स्वत एव विकसिताभवत्। "विद्या ददाति विनयम्"[9] इति चरितार्थाभवत्। विद्याप्राप्तये शिष्यस्य निरहंकारिता विनम्रता च अवश्यरूपेणास्ताम्। शिष्येन भैक्षचर्यायाः व्यवस्थाहंकारस्य विनाशार्थं सर्वप्रथमसोपानरूपेणासीत्। संग्रहप्रवृत्तेः यद् दोषो भवति तन्निवारणाय त्यागमयीवृत्तेः विकासाय भिक्षायाः मूलोद्देश्यमासीत्। भिक्षया यदुपलभ्यते सन्तोषेन तद् सः गृह्णाति स्म।

भिक्षाटनमाध्यमेन जनेभ्यः प्राप्तैरन्नैः क्षुधापूर्त्यनन्तरं शिष्याणां मनःसु सहजभावो विकसितोऽभवत् यत् भिक्षाचर्यरूपेण अस्मादेव समाजात् अनेकवर्षाणि यावत् मदीयं भरणपोषणमभवत्। अतः समाजं प्रत्यपि ऋणं वर्तते। ऋणराहित्यायोत्तरदायित्वं स्वाभाविकरूपेणोत्पद्यते। तस्मात् ऋणात् मुक्त्यर्थेन सहान्नस्य महत्त्वमप्यजानत्। तस्य मनस्यन्नस्य कृते बहवः भावविचाराः पल्लविता आसन्।

"अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अन्नं न परिचक्षीत। तद् व्रतम्। आपो व अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान कीर्त्या।

अन्नं बहुकुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं

वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।[10] अनया प्रेरणया सर्वे तेभ्यः भिक्षामददन्। यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतदन्न दत्तमिति।।[11]

दत्तास्मै भिक्षामिति।[12] तस्मा उ ह ददुः[13] अनेकाभ्यः एषणाभ्यः मुक्तिप्राप्तिमार्गे भिक्षाचर्यायाः वर्णनं याज्ञवल्क्येन कहोलं कौषीतकेयं प्रति कथितेषु शब्देषु प्राप्यते योऽशनाया-पिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाः वित्तैषणा-याश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायार्थभिक्षाचर्यं चरन्ति।[14]

पशुपालनम्

आचार्यकुले निवसन् अन्तेवासी शिष्यः पशुपालनमप्यकरोत्। उपनिषद्युगीनार्थव्यवस्थायां पशवः चलसम्पत्तिरूपेण प्रयुज्यन्ते स्म। कृषिकर्मणि तेषां पशूनामत्यधिकोपयोग आसीत्। तत्त्ववेतृभिः ऋषिभिः पशुपालनस्य वर्णनमुपनिषद्साहित्ये वर्णितम्। अस्योदाहरणं हरिद्रमुतऋषेः तथा शिष्यस्य सत्यकामजाबालसंवादेन प्राप्यते।

"कृषानामवलानां चतुः शाता गा
निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजोति।[15]

विदेहराजजनकेन बहुदक्षिणायज्ञे सहस्रसंख्याकाः गाः दातुं घोषणा कृता गोदानावसरे जनकेन गाः श्रेष्ठज्ञानिनः एव नेतुं शक्याः तदा महर्षिणा याज्ञवल्क्येन स्वशिष्येन वाजश्रवां गाः नेतुमुपदिदेश।

याज्ञवल्क्यः स्वयमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः।
सोभ्योदज सामश्रवा इति ता होदाचकार।।[16]

आचार्यस्य दीक्षान्तोपदेशः

"वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।"

"मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।"

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथा। एष आदेशः एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।[17]

समावर्तनसंस्कारकाले प्रदत्तोऽयमुपदेशः स्वयमेव जीवनमूल्यानां विस्तृतोऽध्यायः। यत्

छात्रान् भविष्यस्य कृते भूमिकायाः निर्माणमकरोत्। मानवीयजीवनाय एकमप्यनिवार्यतत्त्वं नास्ति। यदस्यामुपदेशमालायां नास्ति। प्रस्तुतायाः उपदेशमालायाः प्रत्येकोपदेशः सार्वकालिकः प्रासङ्गिकश्चास्ति। सम्प्रत्यपि एतेषां मूल्यानां महती आवश्यकता वरीवर्ति।

"सत्यं वदेति" सर्वोच्चमूल्यरूपेण तिष्ठति। औपनिषदिक्गुरुणा उपदेशेषु सत्यं वद इत्युदीर्य सत्यापोपदिशति। सत्यमेव छात्रस्य भाविजीवने सम्बद्धं भूत्वा साहाय्यं भविष्यति। मिथ्यामाश्रित्य जनः विपत्तौ पतति। "सत्यमेव जयति नानृतम्–सत्येन पन्था विततो देवयानः येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्।[18]

सत्यमेव परमधर्मरूपेण विलसति। "यो वै सः धर्म तत्समवैतत् सत्यं वैतत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीतिधर्मं वा वदन्तः सत्यं वदतीत्येतद्वयेवैतदुभयं भवति।"[19] "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"[20]

तथा च–

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अतः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।[21]

इत्यस्योद्घोषणां विधाय आत्मतत्वानवाप्तुं सत्यस्य कृते ऋषिः निगदति।

धर्मं चर

व्यक्तेः जीवने आचरणशुद्धेः सच्चरित्रनिर्माणे परमावश्यकता वर्तते। आचार्यः धर्मानुसारं आचरणायोपदिशति धर्मः चतुर्षु पुरुषार्थेषु एकः पुरुषार्थः स्वीकृतः। मानवस्य अर्थकामौ चेत् धर्मपूर्वकं मर्यादितौ तदा पुरुषार्थस्य मोक्षस्य सिद्धिः स्वतः भवति। महर्षिणा कणादेन धर्मस्य लक्षणं कुर्वता "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः। धर्माचरणस्य प्रशंसा सर्वदा "यतो धर्मस्ततो जयः" इत्युदीरितम्। धर्मेण हीनः पशूनां समान एव परिगणितः "धर्मेण हीनः पशुभिः समानः"[22] अद्यापि धर्मभ्रष्टः सर्वत्र बहिष्कृतो भवति। यो वै सधर्मः सत्यम्।[23] अर्थात् श्रेयस्रूपो धर्मः एव सत्यम्" औपनिषदिकाचार्यानुसारेण धर्मात् परः किमपि नास्ति। "यच्छ्रेयो-रूपसत्यसृजत धर्मः तदेतत्क्षणस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति।[24] धर्म एव सर्वेषां नियन्ता, निर्बलानामपि बलम्–अथो अबलीयान्बलीयाजः सयाशःसते धर्मेण यथा राज्ञैव यो स धर्मः।

स्वाध्यायान्मा प्रमदः

स्वाध्यायस्य तात्पर्यं यत् अध्ययन–मननाभ्यां पठितानां विषयाणां सततमभ्यासः तथा च जीवने दैनन्दिनव्यवहारे व्यवहारोऽस्ति। अतः स्वाध्यायात् प्रमादः नैव करणीयः। इदमेव शिक्षायाः मूल्यम्। श्रेष्ठानां ग्रन्थानामध्ययनं मनसि मस्तिष्के च सुप्रभावं करोति। जनः सन्मार्ग-मनुसरति। स्याध्यायः आत्मनिरीक्षणायावसरः प्रददाति।

देवपितृकार्येभ्यः मा प्रमदः

देवपितृकार्येभ्यः मा प्रमदितव्यम्। शिष्यं गृहस्थमनुकूलमुपदिशन् आचार्य व्याहरति। देवकार्येषु पितृकार्येषु च प्रमादः नैव करणीयः। प्रस्तुतोऽयमुपदेशः मानवानां कृते सर्वकल्याणकारी वर्तते। आत्मनः ज्ञानक्षेत्रे ज्येष्ठजनाः देवाः भवन्ति यथा गुरुदेवः। तथा आत्मनः आदौ ये श्रेष्ठाः सन्ति ते पितरः भवन्ति। नास्ति मातृसमो गुरुः[25] गुरुं प्रति अप्रतिमैः त्यागस्नेहपरिश्रमैः शिक्षामवाप्य कृताकृतमुपयुक्तमनुपयुक्तं स्वरूपं ज्ञानं भवति। संस्कृतवाङ्मये मातापित्राचार्यादीनां क्रमः अन्यत्रापि दृश्यते मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान्, पुरुषोवेदः।[26] मातागुरुतराभूमेः पितोच्चरतरस्तथा।[27] सर्वतीर्थमयीमाता सर्वदेवमयो पिता। अनेनप्रकरेण शिष्यस्य जन्मनः आरभ्य मातुः पितुः आचार्यस्य च समग्रविकासे अपूर्वं योगदानं विद्यते। आचार्यः विद्याप्राप्त्यनन्तरं बहुमूल्यमपुदेशः अस्मादेव प्रददाति। वर्तमाने यूनां कृते यथोचितं योगदानं ददाति। 'अतिथि देवो भवेति परम्परायाः निर्वाहः उपनिषत्सु दृश्यते। अतिथिदेवभावनामाश्रित्यातिथिना सहात्मीयं सम्बन्धमुपस्थापयेत्। स्वसामर्थ्यानुसारमेवातिथेः सत्कारः करणीयः। अयमेव धर्मः। अनेन जीवनमूल्याणां विनम्रता-सदाचार-औदार्यं स्वयमेव परिस्फुरन्ति। भारतीयपरिवारेषु अद्यापि अतिथिः देवतुल्यः पूज्यते भौतिकवादिजीवने पाश्चात्यदेशेषु पुत्राः स्वमातरं पितरं नैवाभिजानन्ति। अतिथिसत्कारस्य भारतीया परम्परा प्रशंसनीया औपनिषदिक शिक्षायाः आदर्शः। "यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।[28]" आत्मिकशिक्षायै शिक्षकस्य व्यवहारः पर्याप्तः। भीतो शिक्षकः शिष्यान् वीरतां न शिक्षयति। व्यभिचारिशिक्षा शिष्यान् संयम नैव शिक्षयितुं क्षमः। महात्मना गान्धिनोक्तम्-

आत्मिक शिक्षा के लिए शिक्षक का व्यवहार ही पर्याप्त है। डरपोक शिक्षक विद्यार्थियों को बहादुरी नहीं सिखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्यों को संयम कैसे सिखाएगा?"[29]

तथा च शिक्षायाः लक्षणं स्पष्टी कुर्वन् पाश्चात्य चिन्तकः प्लेटो भवति-

"शिक्षा वही है जो घृणा करने वाली वस्तु से घृणा एवं प्यार करने वाली वस्तु से प्यार करना सिखाती है।[30]"

शिक्षायाः मूल्यमिदं औपनिषदिकगुरोरुपर्युक्ते उपदेशेऽवलोकितो भवति। शिष्यः गुरुणोपदिष्टमनुदेशमनुसृत्य सत्कर्माण्यनुसरन् निन्द्यकर्मेभ्यः स्वात्मानमभिरक्षन् सत्कर्मपरायणो भूत्वा तिष्ठति। संसारेऽस्मिन् कोऽपि सर्वज्ञः नास्ति इत्यपि गुरुः निर्दिशति। अस्य तात्पर्यमिदं यत् अहमेव नास्मि ज्ञाने श्रेष्ठः अपितु अन्येऽपि ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः श्रेष्ठाः सन्ति। अस्मात् कोऽपि शिष्यः अहंकारी नैव भवितुं शक्नोति।

दानकर्मणि श्रद्धा

दानकर्मणि श्रद्धायाः महन्महत्वं भजतेतराम्। अस्मिन्नुपदेशे शिष्यमाचार्यः यथाशक्ति सश्रद्धया दानार्थं शिक्षयति। ऋग्वेदेऽपि-प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।[31] भारस्वरूपं

दानं न देयं प्रसन्नतया देयम्। "श्रद्धया देयम् अश्रद्धया देयम्, ह्रिया देयम् भियादेयम् संविदा देयम्।[32] शास्त्रानुसारं धनस्य तिस्रः गतयो भवन्ति दानं भोगो नाशश्च।।[33]

शिष्यस्य सर्वदा कल्याणमभिलषन् शास्त्रज्ञानिना त्रिकालद्रष्ट्रा ऋषिणा विपत्यमङ्गलाभ्यां स्वात्मानमभिरक्षितुमुपदिशति। दानकर्म सुचरितमेव येन जनः सर्वेषां प्रियं भवति। दानस्य मूल्यं अमूल्यं भवति। एतत्तु लौकिककल्याणस्य कृते साधनभूतं भवति। "अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम्।"[34]

उदात्तजीवनस्य प्रेरणा

उपनिषत्सु सत्कर्मणः अभिनवप्रेरणा प्रदत्ता। सत्कर्माण्योदात्तभावनोत्पद्यते। जीवने उदात्त विचारणाभङ्गीकृते औदात्यं स्वयमेवायाति। श्रुत्यनुसारं उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।।[35] केवलं भौतिकेन ज्ञानेन सिद्धिर्न भवति यथार्थज्ञानेनैव जीवनस्यौदात्यमायाति। जीवनं प्रति आशावान् भूत्वा कर्म कुर्वन् शतवर्षाणि यावत् जीवितुमभिलाषा करणीया–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।।[36]

त्यागपूर्वकं भोगः

त्रिकालज्ञो ऋषिः भौतिकजगतः सत्यतायै भूमिकां स्थापितवान्। सत्यं वद धर्मं चर सत्यान्न प्रमादितव्यम् धर्मान्न प्रमदितव्यम्, कुशलान्न प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम्। इत्येभिः उपदेशैः पौनः पुन्येन ऋषिवरः स्पष्टः धर्मानुसारं धनसञ्चयार्थं मुपदिशति परेषां धनं हर्तुमवरुणद्धि।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।[37]

कठोपनिषद् –

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो, लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं, वास्तु मे वरणीयः स एव।।[38]

अर्थात् धनं प्रति निर्लिप्तता सञ्चयव्यर्थता प्रतिपादिता। एवं सर्वाषूपनिषत्सु श्रेयस्प्रेयसोः कृते सुदृढा शिक्षा प्रदत्ता। सद्बुद्धिप्राप्त्यर्थं प्रार्थना विहिता।

यां मेधां देवगणा पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु।।[39]

औपनिषदिकं ज्ञानं ज्ञानसारः। अतः इमे उपदेशाः अनुकरणीयाः पठनीयाः, पालनीयाः,

शिक्षणीया, धारणीयाश्च वर्तन्ते। अनेन अस्माकं जीवने व्यावहारिकमूल्येन सर्वाङ्गीणोन्नतिः भवितुं शक्नोति। अतः सर्वा उपनिषदः सततमधेतव्यमिति।

सन्दर्भाः पाद-टिप्पण्यश्च

1. कठोपनिषद्-शाङ्करभाष्यम्-प्रस्तावना
2. बृहदारण्योपनिषद्- 2.5.19
3. छान्दोग्योपनिषद्- 6.2.1
4. छान्दोग्योपनिषद्- 6.16.3
5. बृहदारण्यकोपनिषद्- 1.4.10
6. तैत्तिरीयोपनिषद्- 2.6
7. अथर्ववेदः 11.5.3
8. आपस्तम्बधर्मसूत्र- 11.15.16
9. हितोपदेशः - पृ.सं. 6
10. तैत्तिरीयोपनिषद् - 3/7-9
11. छान्दोग्योपनिषद्- 4.3.6
12. छान्दोग्योपनिषद्- 4.3.7
13. छान्दोग्योपनिषद्- 4.3.8
14. बृहदा. 3.5.1/4.4.22
15. छान्दोग्योपनिषद्- 4.4.5
16. बृह्दारण्यक- 3.12
17. तैत्तिरीयोपनिषद् - 3.1.6
18. बृहदारण्यक - 1.4.4
19. तैत्तिरीयोपनिषद्- 2.1
20. मुण्डकोपनिषद् - 3.1.5
21. वैखानससूत्र- 1.1.2
22. बृहदारण्यक- 1.4.14
23. बृहदारण्यक- 1.4.14
24. महाभारतम्
25. महाभारत वनपर्व 313.60
26. शतपथ ब्राह्मण
27. महाभारत वनपर्व- 313 अ.
28. तैत्तिरीयोपनिषद्-शिक्षावल्ली- 1-11
29. धर्मदर्शन शिक्षा- पृ. 98
30. धर्मदर्शन शिक्षा पृ. 95
31. ऋग्वेदः - 10.151.2
32. तैत्तिरीयोपनिषद्- 1.11
33. नीतिशतक- 43
34. तैत्तिरीयोपनिषद्- 1.11
35. कठोपनिषद् - 1.3.14
36. ईशावास्योपनिषद्- 2
37. ईशावास्योपनिषद्- 1
38. कठोपनिषद्- 1.27
39. यजुर्वेदः 32.14

✦✦✦

रुहो रुहोह रोहितः। -अथर्व. 13.3.26
याद रखो, जो उन्नतिशील है वह एक दिन सबसे ऊँचा चढ़ जायेगा।

सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति। -अथर्व. 18.1.2
सगे सम्बन्धवाली कन्या से विवाह करना बड़ा ही विषम होता है।

पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। -अथर्व. 18.1.14
उसे पापी कहते हैं जो बहिन से विवाह करे।

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (132-137) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

वैदिकवाङ्मये रुद्रस्य स्वरूपम्

डॉ. रणजित बेहेरा

एसोसिएटप्रोफेसर, संस्कृतविभागः,

दिल्ली-विश्वविद्यालयः

भारते उपलब्धासु साहित्यसामग्रीषु वेदाः सर्वप्राचीना एव। वैदिकवाङ्मयस्य वैशिष्ट्यं तत्र प्रतिपादितैः नानाविधैर्विषयैः स्वयमेव प्रतिष्ठितं विदिततरञ्च। वैदिकवाङ्मये प्रायशः देवतानां स्तुति-प्रार्थना-धार्मिककृत्यादयः वर्णिताः सन्ति। तथा च कथयितुं शक्यते यत् वैदिकसाहित्ये वर्णिताः देवताः प्राकृतिकदृश्यसमीपवर्तिन्य इति। भारतवर्षस्य धार्मिकेतिहासं जिगमिषामश्चेत्सर्वाषां विचारधाराणां मूलभूताः वेदा एव। देवतानां वर्गीकरणं प्रायशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युस्थानीयरूपेण विधीयते। वैदिकदेवतासु यदि पौराणिकशिवस्यादिरूप-मवलोकयामस्तर्हि वैदिकदेवता रुद्र एव भवितुमर्हति। शोधपत्रेऽस्मिन् वैदिकरुद्रस्य स्वरूपविषये सविस्तरं प्रतिपादयिष्यते।

रुद्-धातोः रक् प्रत्यये कृते सति निष्पद्यते रुद्र-शब्दः। यास्काचार्येण रुद्रः मध्यमस्थानीयः स्वीकृतः, तद्यथा-**अथातो मध्यस्थाना देवताः।**[1] **तासांवायुः प्रथमगामी भवति। ..... रुद्रो रौतीति सतो, रोरूयमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा। 'यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्व'मिति काठकम्। 'यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्व'मिति हारिद्रविकम्।**[2]

ऋग्वेदे रुद्रः मध्यमस्थानीयदेवरूपेण स्तुतः। तत्रैव केवलं त्रिषु सम्पूर्णेषु सूक्तेषु रुद्रस्य स्तुतिर्वर्तते।[3] एतदतिरिच्य अपरेऽस्मिन् सूक्तेप्रारम्भिकैः षड्भिर्मन्त्रैः रुद्रः स्तुतोऽपरैस्त्रिभिर्मन्त्रैः सोमश्च स्तुतः।[4] अन्यस्मिन् सूक्ते रुद्रः सोमश्च युगलरूपेण स्तुतौ। वैदिकदेवतानां स्तुत्यर्थं यानि सूक्तानि वर्तन्ते तेष्वपि रुद्रस्योल्लेखः प्राप्यते। विविधेषु सूक्तेषु रुद्रस्य यत्स्वरूपं दरीदृश्यते तद् विद्वांसः भिन्न-भिन्नरूपेण स्वीकृतवन्तः। रुद्रपदस्य शाब्दिकार्थः, मरुद्भिः सह गमनं, रुद्रस्य बभ्रुवर्णः क्रुरस्वरूपं चेत्येतद् सर्वं दृष्ट्वा केचन विद्वांसः मन्यन्ते यत् रुद्रः झंझावातस्य प्रतीक एव। वेबरमहोदयानुसारं वैदिकरुद्रः झंझावातस्य रवस्य प्रतीको वर्तते।[5] रुद्राग्नयोः साम्यमुररीकृत्य मेकडौनलमहोदयेन प्रतिपादितं यत् रुद्रः न केवलं झंझावातस्य प्रतीक एव अपि तु विध्वंसकविद्युत्रूपेण झंझावातस्य विध्वंसकस्वरूपस्य प्रतीकोऽस्ति।[6] रुद्राग्नयोः साम्यत्वात् कैश्चित् विद्वद्भिः स्वीकृतं यत् वैदिकरुद्रोऽग्नेः किमपि रूपमेव। विल्सनमहोदयस्य मते रुद्रः अग्नेः इन्द्रस्य वा एकं रूपमिति।

1. रुद्रस्य प्राकृतिकस्वरूपम्

रुद्रस्य स्वरूपविषये वैदिकमन्त्राणां समुचिताध्ययनेन तथा विशेषोपाधीनां विश्लेषणेन

प्रतीयते यत् यस्य प्राकृतिकतत्त्वस्य प्रतीकरूपेण स्वीकर्तुं शक्यते तद्रूपं भवति घनाम्बुमालायां प्रस्फूरन्ती विद्युत् तथा च तेन साकं जायमाना गर्जनाध्वनिः वृष्टिश्च। वैदिकरुद्रः मध्यमस्थानीयदेवरूपेण स्वीकृतः। एतदर्थं आकाशस्य कस्यापि प्राकृतिक-तत्त्वस्य प्रतीक इति। रुद्रस्य वर्णः कदाचित् बभ्रुः, श्वेतः हिरण्मयो वा प्रतिपादितः। वारिवाहे प्रस्फूरन्त्यां विद्युतीमे वर्णाः भवन्ति तथा च विद्युत्स्फूरणानन्तरं या गर्जना भवति सैव रुद्रस्य रव एव, यस्मात्तस्य नाम रुद्रः जातः।

2. रुद्रस्य मानवीयरूपम्

रुद्रस्य हस्तविषये वर्णनमुपलभ्यते, यथा-**क्व१स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः। अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः।**[7] हे रुद्र! तव सुखयिता हस्तः कुत्र वर्तते, यः हस्तः सर्वेषां सुखकरोऽस्ति। तेन हस्तेन अस्मान् रक्षेति भावः। पुनश्च स एव रुद्रः पापहर्ता वर्तते। रुद्रस्याधरविषयेऽप्युल्लिखितं यत् सः सुशिप्रः, ऋदूदरः (मृदूदरः/उदारहृदयविशिष्टः) बभ्रुवर्णश्चास्ति, यथा-**ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायौ।**[8] सः बहुरूपत्वात् 'पुरुरूप' इति प्रथितः। सुवर्णालंकारैर्सज्जीभूय रथमारुह्य च प्रयाति। रुद्रः जटाधारीत्यस्मात्कारणात् 'कपर्दी' इति प्रसिद्धः, यथा-**इमाः रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।**[9] सोऽपि वज्र-धनु-सायक-धारी वर्तते, तद्यथा-**अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपं।**[10]

3. रुद्रस्य कृते प्रयुक्तानि विशेषणपदानि

वैदिकरुद्राय यानि विशेषणानि प्रयुक्तानि, तेषु कानिचन पदानीमानि सन्ति-कपर्दिन्[11], सुशिप्रः (शिप्रे हनू नासिके वा। शोभनशिप्रः)[12], दिवोवराहः (आकाशस्य वराहः)[13], पुरुरूपः, यज्ञसाधः (यज्ञस्य साधयिता)[14], पुरुरूपः (अष्टमूर्त्यात्मकैर्बहुभिः रूपैरूपेतः)[15], मरुतां पितः[16], क्षयद्वीरः (क्षपितसर्वशत्रुजनः)[17], द्विबर्हाः (द्वयोः स्थानयोः पृथिव्यामन्तरिक्षे च परिवृहः)[18], वज्रबाहुः (आयुधहस्तः)[19], वृषभः (कामानांवर्षिता)[20], ऋदूदरः (मृदूदरः)[21], मृळयाकुः (सुखयिता)[22], भेषजः (भेषज्यकृत्)[23], जलाषः (सर्वेषांसुखकरः)[24], कल्मलीकिन् (कलयत्यपगमयति मलमिति)[25], ओजीयः (बलवान्)[26] शिवः[27] शिवतमः[28] शंकरः[29] त्र्यम्बकः[30] सहस्राक्षः[31] सहस्रशधन्वाः[32]।

4. रुद्रस्य द्वन्द्वात्मकरूपम्

संसारस्य सृष्टिः स्थितिश्च द्वन्द्वात्मकं वर्तते। एतदतिरिच्य सृष्टिः नैव प्रचलिष्यति। एतदर्थमहोरात्रं, शीतोष्णं, प्रकाशान्धकारौ, चेतनाचेतनं, पापपूण्यं सुखदुःखमित्यादीनि द्वन्द्वरूपाणि रुद्रादेवोत्सृष्टानीति। परं रुद्र एव द्वन्द्वरूपादुपर्य्येव। सृष्टावस्यां रुद्रः नैव सम्पृक्तः। यो जनः द्वन्द्वरूपाणीमान्युल्लंघयितुं शक्नोति, स एव मुक्तः। निम्नदृशा रुद्रस्य द्वन्द्वात्मकरूपमुपलभ्यते-

(क) रुद्रस्य द्वन्द्वरूपं स्वीकर्तुं शक्यते, तद्यथा-शिवः घोरश्च। यजुर्वेदेशिवा-तन्वाः प्रार्थना इत्थं वर्तते-

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।
शिवा रुतस्य भेषजी तयो नो मृड जीवसे।।[33]

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि।।[34]

(ख) रुद्रस्य द्वन्द्वरूपे विरुद्धभावं प्रदर्शयति, तद्यथा–

नमो ज्येष्ठाय कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च।
नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च।।[35]

नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतयेच।[36]

(ग) द्वन्द्वात्मकरूपेण एतत् परिलक्ष्यते यदवान्तरभेदेनापि न्यूनता नैव परिलक्ष्यते, तद्यथा–

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमोबृहते च वर्षीयसे च।
नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च।।[37]

(घ) सांसारिकोक्तौ यदुच्यते श्रेष्ठः निकृष्टो वा, परमेतद् रुद्रस्य कृते सर्वे मानवास्तस्य सन्तानत्वात्समाना एव। ऋतवः, सूर्याचन्द्रमसौ, अहोरात्रं, जलवायुः, पृथिवी, आकाश इत्यादयः रूद्रेण विरचिताः। स्वकीय–योग्यता–परिश्रमाभ्यां कोऽपि कस्मिन्नपि कार्ये सफलतामाप्नोत्यथवा विफलताम्। इमे सर्वे तस्यैव विभिन्नानि रूपाणि। एतदर्थंसर्वान् नमस्क्रियते, तद्यथा–

नमो मन्त्रिणे वणिजााय कक्षाणां पतये नमः।
नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः।।[38]

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो निषंगिण इषुधिमते
तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांꣳसद्भ्यो मुष्णतां
पतये नमो। नमोऽसिमद्भ्यो नक्तञ्चरेभ्यो विकृन्तानां पतये नमः।।[39]

5. रुद्रस्य त्रिविधरूपम्

(क) **ब्रह्मारूपम्** – रुद्रः सर्वाणि भुवनानि विनिर्माति। सः पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्युलोकानां स्वामी एव। ब्रह्माण्डे विद्यमानाः प्राणिनः पदार्थाश्च तस्यैव पुत्राः। एतदर्थं रुद्रस्य संख्या असंख्यातेत्याख्याता। अनेनैव प्रकारेण परवर्तीकाले पौराणिककल्पनानुसारं सृष्टिकर्तृत्वात् रुद्रः ब्रह्माब्रह्मणस्पतीति ख्यातः, तद्यथा–

य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये।।[40]

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या तव आ पप्रे उर्वन्तरिक्षम्।।[41]

रुद्रस्य ये मीळहुषः सन्ति पुत्राः।[42]

असंख्याता सहस्त्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्।[43]

(ख) **विष्णुरूपम्** – रुद्रः सर्वेषां भुवनानां पिता इव पालयति। स एव रोगान् दूरीकरोति, शत्रून् नाशयति, पापेभ्यः रक्षति च। पौराणिककल्पनायाः विष्णोः कार्यनिर्वहणत्वात् विष्णु इत्युच्यते, तद्यथा–

भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्र दिवावर्धया रुद्र भक्तौ।[44]
यथा समसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्।[45]
हस्ते बिभ्रद्भेषजा वार्याणि शर्म वर्मच्छर्दिरस्मभ्यं यंसत्।[46]
क्व१स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्य अभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः।।[47]

(ग) **शर्वरूपम्** – रुद्रोऽसौ विरचित–सृष्टिरिमामग्रे सारयितुं सर्वदैव प्रयतते। कार्येऽस्मिन् ये विघ्नकारकाः वर्तन्ते तथा च प्रजाप्रताडिताः सन्ति, तान् सर्वान् रुद्रः संहरति, तद्यथा–

नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः।
बाहुभ्यामुत ते नमः।।[48]

अनेन प्रकारेण ब्रह्मा–विष्णु–शर्वरूपाणि स्रष्टा–भर्ता–संहर्तारूपेण रुद्रे समाहितानि सन्ति।

6. रुद्रः भिषक्रूपेण

रुद्रोऽयं न केवलं साधारण–भिषगपितु सर्वश्रेष्ठभिषक् वर्तते। स एव शारीरिक–मानसिक–आत्मिक–सामाजिक–राजनैतिक–प्राकृतिक–आन्तरिक–रोगाणां चिकित्सकोऽस्ति। सः सर्वेषां कृते कल्याणं विदधाति, तद्यथा–

गाथपतिं मेघपतिं रुद्रं जलाषभेषजम्। तच्छंयोः सुम्नमीमहे।।[49]
हस्ते बिभ्रद्भेषजा वार्याणि शर्म वर्मच्छर्दिरस्मभ्यं यंसत्।।[50]

7. शत्रुविनाशकः रुद्रः

रुद्रः मुख्यसेनापतिर्वर्तते। देशाय प्राणोत्सर्गार्थं सदैव तत्पराः मनुष्याः तस्यैव सैनिकाः। स एव सर्वाभ्यः दिग्भ्यः देशरक्षां करोति। उग्रमरुतोऽपि रुद्र इत्यभिधीयन्ते। तस्य सैनिकाः विविधैः शस्त्रैः सदैव सुसज्जिताः भवन्ति। त एव तीक्ष्णशस्त्राणि स्वाधीने स्थापयन्ति। सः बलशालिनः शत्रून् पराजयति। सर्वाः प्रजाः सदैव तमभिनन्दन्तीत्येतदर्थं सः प्रजाकल्याणाय सर्वथा प्रयतते। एतदर्थं प्रजाः स्तुवन्ति यत् रुद्रोऽस्माकं कृते कल्याणकारी भवतु, तद्यथा–

(क) **नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां ..... तमेषां जम्भे दध्मः।।**[51]

(ख) **नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमः।।**[52]

(ग) **नमो धृष्णवे च प्रमृशाय नमो निषंगिणे चेषु धिमते चनमस्तीक्ष्णेषवे चायुधानि च। नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च।।**[53]

(घ) **नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः।।**[54]

निष्कर्षरूपेणेदं कथयितुं शक्यते यत्पाश्चात्यविद्वखिः रुद्रस्य स्वरूपं भिन्नभिन्नरूपेण प्रतिपादितम्। सामान्यतया एतदुच्यते यदाकाशस्य कस्यापि प्राकृतिकतत्त्वस्य प्रतीको वर्तते रुद्रः। यास्काचार्येण देवतानां यः आकारः प्रतिपादितः स एव पुरुषाकारः रुद्रस्यैव वर्तते यत् विविधैः विशेषणपदैः सुस्पष्टमेव। पुनरप्येतत् ध्यातव्यं यत् यद्यपि नैकाधिकेषु स्थलेषु रुद्रः शान्तः उदारश्चेति वर्णितस्तथापि रुद्रस्य मूलस्वरूपे घोर-विनाशकारी-भयंकर-शान्त-पोषक-उदारादयः प्रवृत्तयः समाविष्टाः वर्तन्ते। वस्तुतः रुद्रोऽसौ सर्वोच्च-सत्ताया अंग एव। अतः सर्वाण्येव तत्त्वानि रुद्र एव समाविष्टानि सन्ति।

सन्दर्भाः पादटिप्पणयश्च

1. नि. 10.1
2. तदेव, 10.1.5
3. ऋ. 1.114, 2.33, 7,46
4. तदेव, 1.43
5. तदेव, 1.114
6. वैदिक माइथौलोजी, अनुवादकः, रामकुमारायः, पृ. 142
7. ऋ. 2.33.7
8. तदेव, 2.33.5
9. तदेव, 1.114.1
10. तदेव, 2.33.10
11. तदेव, 1.114.1 : इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
12. तदेव, 2.33.5 : हवीमभिर्हवते ..... अस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै।।
13. तदेव, 1.114.5 : दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा नि ह्वयामहे।
14. तदेव, 1.114.4 : त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं वंकुं कविमवसे नि ह्वयामहे।
15. तदेव, 2.33.9 : स्थिरेभिरंगैः पुरुरूप उग्रो शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।
16. तदेव, 1.114.9 : उप ते स्तोमान्पशुपा इवाकरं रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमस्मे।
17. तदेव, 1.114.10 : आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु।
18. तदेव, 1.114.10 : मृळा च नो अधि च ब्रूहि देवाधा च नः शर्म यच्छ द्विबर्हाः।।
19. तदेव, 2.33.3 : श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
20. तदेव, 2.33.4 : मा त्वा रुद्र चुकुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।
21. तदेव, 2.33.5 : ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रोरधन्मनायै।।
22. तदेव, 2.33.7 : क्व१स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
23. तदेव, 2.33.7 : क्व१स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
24. तदेव, 2.33.7 : क्व१स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
25. तदेव, 2.33.8 : नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम।
26. तदेव, 2.33.10 : अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति।

27. यजु. 16.51 : मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव।
28. तदेव, 16.51 : मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव।
29. तदेव, 16.41 : नमः शंभवाय मच मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।।
30. तदेव, 3.58 : अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम्।
31. यजु. 16.29 : नमः कपर्दिने च व्युत्पकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमः।
32. तदेव, 16.29 : नमः कपर्दिने च व्युत्पकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमः।
33. तदेव, 16.49
34. तदेव, 16.2
35. तदेव, 16.32
36. तदेव, 16.28
37. तदेव, 16.30
38. तदेव, 16.19
39. तदेव, 16.21
40. अथर्व. 7.81.1
41. तदेव, 11.2.27
42. तदेव, 6.66.3
43. यजु. 16.54
44. ऋ. 6.49.10
45. ऋ. 1.114.1
46. तदेव, 1.114.5
47. तदेव, 2.33.7
48. यजु. 16.1
49. ऋ. 1.43.4
50. तदेव, 1.114.5
51. यजु. 16.64
52. तदेव, 16.17
53. तदेव, 16.36
54. तदेव, 16.1

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (138-147) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

Vedic Religion : Central Aspects

Dr. Shashi Tiwari

Formar Professor of Sanskrit,
Maitreyi College, University of Delhi &
General Secretary, WAVES India

Vedic Dharma contains a treasury of spiritual laws that were discovered and realized by unknown number of sages and saints over many millennia and were compiled into the Vedas and Upanishads and leter in many additional books in the form of explanations and stories as the situation and time demanded. So the Vedic Dharma or religion or culture is not started by a person. The thing tounderstand is that the Vedas were not originated or composed by anyone. They are revelations that were recorded. The spiritual knowledge that became the Vedas and Vedica literature are part of the *Sbabda Brahman,* or the spiritual vibration that exists eternally, within and without the material energy and manifestation, and before, during, and after the creation and annihilation of the cosmic manifestation. Sages who were and are capable of entering that spiritualo dimension, or have glimpses into the strata, can easily realize and imbibe the knowledge that exists in that realm and then prescribe or compose then for the benefit of all of humanity.

Vedic Religion includes ritualistic, philosophical and cultural views of Vedic seers. It can be studies by understanding the deep meaning of mantras. Here we are trying to give some specific principles of Vedic religion so that it can be identified in tis general nature.

1. Aims of a Human Life

According to the doctrines of the Vedas, life of human being should be happy and satisfied physically, mentally and spiritually. In Vedic Mantras we find many prayers for prosperity, long life, wealth, intelligence, family, children and food. All this is desirable for a good and high-quality life and Vedic Seers have underlined this fact.

Moksha or liberation is recommended as the highest goal of human life by Upanishads. According to Upanishads for a human being, the highest aim to be expected is union with the Brahman. This union or ultimate liberation can be attained only by giving up non-knowledge

(*Ajnana*) and by achieving knowledge (*Jnana*). Only he who has recognized the oneness of the Atman with the Brahman will obtain complete union with the Brahman. '*Brahma ved Brahmaiva bhavati*' (M.U. 3/2/9) is the famous sentence from Mundaka Upanishad which means 'he, who knows Brahman, becomes Brahman'. According to Upanishads, in order to attain this highest aim it is necessary to give up all works, good as well as bad. For sacrifices and pious works only lead to *Svarga,* this is not the highest goal, because after enjoying *Svarga* the soul comes back for rebirth. Knowledge alone, knowledge of Self or Brahman, knowledge of oneness, leads to the One and Eternally True Brahman. In the Katha Upanishad, Naciketa through his third boon wants to know Brahman alone for obtaining the highest goal of Absolute Immortality. So according to the Upanishads knowledge of Reality leads to salvation.

2. Belief in One Supreme Entity

The two conceptions, Atman and Brahman are commonly treated as synonymous in the Upanishads. Often they are interchanged with one another. But, strictly speaking, Brahman represents the supreme power or principle which pervades the universe and Atman, and its part is manifested in a being. The great fundamental doctrine of the Upanishads is identity of the individual Atman with the world-Atman (Brahman). It is most forcible expressed in a frequently repeated sentence of the Chandogya Upanishad (6.5-16)-

"This whole world consists of it: that is the Real, which is the Soul, that art thou, O Shvetaketu."

In that famous formula "That are you" (*tat tvam asi*), all the teachings of the Upanishads are summed up. The Brihadaranyaka Upanishad (1.4.6) expresses the same doctrine-

"Whoever knows this 'I am Brahma' (*aham Brahma asmi*), becomes the All. Even the gods are not able to prevent him from becoming it because he becomes their Self (Atman)."

First mantra of Ishavasyopanishad says that the Supreme Brahman is pervaded every where-

Isha vasyamidam sarvam yat kinca jadatyam jagat/
Tena tyaktena bhunjitha ma gridhah kasya sviddhanam//

Translation - All this whatever there is changeful in this changing universe should be enveloped by the Lord. Protect the Self by this renunciation. Do not covet the wealth of anyone. (Do not covet, for whose is this wealth?)

Purusha Sukta of the Rigveda (10.90) descirbes Supreme Brahman or Purusha as Universal soul. The first Mantra of the Purusha Sukta establishes the same fact saying-

Sahasrashirshah purushah sahasraksha sahasrapat/
Sah bhumim vishvato vrittva atyatishthat dashangulam//

Translation : The Perfect Being has thousands of heads, thousands of eyes and thousands of feet. Having pervaded the whole earth on all sides, He remains ten fingers in surplus (as He is endless).

The Hiranya-grabha Sukta is regarded important for the description of creation in the Rigveda. According to traditional view Hiranya-grabha is the first aspect created from Brahman and later it causes the creation and all beings. One Mantra says-

Hiranyagarbha samavartatagre
bhutasya jatah patireka asita/
Sa dadhara prithivim dyamutemam
kasmai devaya havisha vidhema// (Y.S. 13/4, 23/1, 25/10)

Translation : Hiranya-grabha was produced in the beginning of creation. He was the born sole Lord of all beings. He upheld the earth, the sky and all these. What god (except Him) should we worship with oblation?

3. Importance of Action and Knowledge

According to the Vedic Religion actions are important in life. If a man wants to lead a peaceful and long life he should perform actions most of the time. In this reference second mantra of Ishavashvopanishad is noteworthy-

Kurvanneveha karmani jijivishetacchatam samah/
Evam tvayi nanyatheto' sti na karma lipyate nare// (M.No.2)

Translation : Only by performing actions, one should desire to live a hundred years in this earth. For such a man like you there is no way other than this (by which) actions do not cling to.

In Later Vedic Literature, specially in the Brahmanas and Aranyakas texts, various rituals are prescribed which are indeed different forms of actions to get definite fruits related to worldly or divine pleasures. When we study Upanishads, we find the importance of knowledge of Atman (*Atma-jnana*) is described everywhere. In this regard, a simple story of Katha Upanishad is to be mentioned.

A poor and pious Rishi Vajashrava performed an elaborate sacrifice that required, among other things, the giving away of all his wealth and possessions. He had a son named Naciketa who though

young had a higher spiritual consciousness. He watched the proceedings and saw the gifts being given. After performance, Rishi gave away a few old and feeble cows to the priests as *Dakshina*. Naciketa found them absolutely useless for any purpose. Such an unworthy gift would only bring misery to his father after death, the boy realized. He thought that instead of getting the fruit of the great sacrifice, his father would go to the regions of misery and therefore, it was the duty of the son to save his father even at the cost of his own life. He asked to his father that a son was also property and should be included among the things for distribution. He wished to know, therefore, to whom he was going to be given. He asked the question, "Father! To whom are you going to give me?" His father did not pay any attention to the question, but went on with the routine of the great sacrifice. Naciketa repeated the question three times till Vajashrava losing patience exclaimed without meaning anything like what he said, "I shall give you to Death, to Yama". Father was only annoyed and so answered angrily that he would give him to Yama, the King of Death. Later he was shocked at his own exclamation. Naciketa asked his father to follow the path of truth and send him to the Abode of Death. The father did accordingly. Naciketa then went to the abode of Yama. The latter held a high position among the gods. He was reputed to be a teacher of the Knowledge of Brahman. As Yama had gone out, Naciketa stayed at his doors for three days and nights without food and water. On returning home, Yama felt sorry for what had happened in his absence, but then apologizing worshipped him as his guest. Yama then gave him three boons, one for each night. Naciketa used his first boon in obtaining the pleasure and peace of mind for his father. By the second boon he got the knowledge of the Divine Fire for sacrificial rituals which could be used for obtaining a place in the heaven. This boon shows the importance of actions and rituals for heavenly pleasure. Then in exchange of the third boon, he requested Yama to instruct him with the knowledge of Atman. Upon this, Yama insisted upon him in several ways not to be adamant upon having the *Atma-jnana* in as much as even gods were unable to understand the nature of it. But Naciketa said, "If even the gods had doubts in this matter and you say that it is not easily to be comprehended, who then could expound it to me as you can, O Death and what other boon can be equal to this?" At last Yama granted him his desired boon through the teaching of the Katha Upanishad, which includes various aspects of complete spiritual knowledge.

Thus the story states that actions are essential for worldly and heavenly pleasures, but for obtaining final aim of life i.e. liberation or Moksha, attainment of real knowledge is necessary.

4. Purification of the Mind

Vedic Religion emphasizes on the purity of mind. Shivasankalpa-Sukta of Yajurveda indicates significance of good will and purification of mind for human beings. The mantra points out that everything in the world is the outcome of the mind. The mind has tremendous power. It is the actual illuminator of all the perceptive senses of men. If human mind has good thoughts all will be good. Our senses are instruments of knowledge so they are just like lights (*Jyoti*). But mind is even their light because they can work when mind activates them. Therefore good motivation of mind is most important. When the mind is evil it can bring destruction, when it is noble and pure it can bring peace. In the end of all the mantras of this sukta a common phrase is given that 'may that mind of mine be of auspicious (*Shiva*) resolution (*sankalpa*).'

-Tanme manah shivasankalpamastu. (Y.S. 34/1-6)

5. Nature Worship, Vedic Deities and Vedic Symbolism

The Vedic Aryans were children of nature. They studied nature's drama very minutely. Sand-storm anc cyclone, intense lightening, terrific thunder-claps, the heavy rush of rain in monsoon, the swift flood in the stream that comes down from the hills, the scorching heat of the sun, the creacking red flames of the fire, all witness to power beyond man's power. The Vedic sages felt the greatness of these forces. They adored these activities. They appreciated these forces. They worshiped and prayed them due to regard, surprise and fear. They realized instinctively that action, movement, creation, change and destruction in nature are the results of forces beyond men's control. And thus they attributed divinity to nature.

The main part of Rigveda belongs to Natural hymns, the hymns related with natural forces. Yet Vedic gods are explained in different ways by the scholars of India and West, but speaking generally, the hymns addressed to deities (*Devata*) are under the influence of the most impressive phenomenon of nautue and its aspects. The word *Devata* means divine, divinity which is bright, strong, donor, and powerful. In these hymns we find prayers for certain natural elemnts such as air, water, earth, sun, rain, dawn etc. The glorious brightness of the sun, the blaze of the sacrificial fire, the sweep of the rain-storm across the skies, the recurrence of the dawn, the steady currents of the winds, the violence of the tropical storm and other such natural energies, fundamental activities or aspects are glorified and personified as divinities (*Devata*). The interaction with nature resulted in appreciation and prayer but, indeed, after a good deal of observation. Attributes

assigned to deities fit in their natural forms and activities, as Soma is green, fire is bright, air is fast moving and sun is dispenser of darkness. The characteristics of these forces described in the verses prove theat Vedic seers were masters of natural science. All powers, aspects or activities of nature are generally regarded as deities because they are helpful, beneficial and essential for our life. Rivers, mountains, earth, air, water, plants, trees, forest, fire, rain, cloud, Sun, Moon etc, all are deities in Vedic mythology. In Rigveda the names of major deities are, such as Agni, Indra, Vayu, Earth, Soma, Varuna, Vishnu, Aditya, Usha, Aditi, Parjanya, etc.

Though Vedic symbolism we can understand the formation of Vedic deities.

1. They are helpful and essential in our life so they should to worshiped or respected.
2. Worshiping gives the sense of their importance in enivronment and life. This also develops the ecological consciousness of the worshiper.
3. The attributes assigned to deities are their characteristics in general and according to that generally prayers are performed and objects are desired. It means that to get that thing from a particular deity, in fact we should develop those divine qualities in ourselves.

   For example *Gaytri Mantra* is taken here:

   Tatsaviturvarenyam bhargo devasya dhimahi/
   dhiyo yo nah prachodayat// (Y.S. 3/35, 22/9, 30/2)

This mantra is of Deva Savita. Here worship is saying that he is concentrating on the *Varenya Bharga* (Brilliance) of Savita and he is desirous to get Intelligence. By chanting this Mantra worshiper requests Savita, the Sun to give him intelligence because he is meditating on its luminous and glowing form. Sun's brilliance symbolizes knowledge and wisdom. If we will be away from the darkness of ignorance, light of knowledge will come to us automatically. This is the hidden meaning of this Vedic prayer.

6. Purpose and Scientific Basis of Vedic Rituals

According to Vedic views traditional rites and rituals have a definite influence upon individuals. The activities involved while performing rites and rituals may include a *yajna,* chanting mantras, and special offerings, which are based upon scientific principles. Scientists acknowledge the influence of sound and music, color, magnetic vibrations, and knowledge on which we concentrate. There

is no doubt about the uplifting effect of rites and rituals. Good actions promote good habits and positive impressions that are absorbed by the mind and consciousness. Even psychologists admit that a person picks up good habits quickly when directed by good people in the correct environment. The conscious mind controls the bulk of everyday activities. The unconscious mind looks after the more subtle and finer activities. The conscious mind collects impressions and influences from the outside world. The Vedic rituals provide a means for this to happen. However, the unconscious mind sorts the information and builds memories. Depending upon the kind of impressions and influences one gathers from the environment, the subconscious mind gradually transforms itself accordingly. A skillful and efficient mind renders the best support and service to the soul. It is not possible to awaken the perception of one's soul without a controlled and pure mind.

During rites and rituals a priest invokes the blessings of the deities. When individuals experience the kindness of gods and are emotionally touched during the *yajna* and other activities, the mind gets charged with religious feelings. The importance of the occasion, the enthusiasm, the purity of the place, an emotional oath by the individual, the presence of the family, relatives and friends together add up to create a special kind of mental state. Activities during rituals leave an indelible impression upon the individual. This impression specially influences and educates the mind. The effect of the ceremonies depends upon the atmosphere on the occasion and the way it is conducted.

Hindus observe a variety of rites and rituals. The *Gautam Smriti* mentions that there are 40 basic rituals. Some religious texts place this figure at 48. According to Maharishi Angira, there are 25 basic forms of rituals. *Agnihotra* is a simple rite. It also means a sacrificial fire. This is the ritual in which *ghee* and sesame seeds, and on some occasions other items, are offered into a small fire, usually in a pot or special container, while the priest chants various mantras for petitioning the presence and mercy of God. The fire, Agni, Devata, the fire god, becomes the mouth of God, through which He accepts our offerings. These are also distributed to the other gods. Thus, prayers for many divinities are chanted during the ceremony. The ritual invokes auspiciousness, peace, goodwill, and changes the vibrations and atmosphere wherever it is held. Sometimes people who are confused or misinformed think that Hindus or followers of Vedic culture practice the sacrifice of animals to the deities or in rituals. However, this is completely wrong.

7. Chanting of Vedic Mantra and Om

According to Vedic views Mantas are powerful and effective if

chanted with full consciousness and attention, and with an understanding of their meanings. A mantra is a sacred verbal formula repeated in prayer or meditation. The chanting of mantras helps to open the heart and mind to clear consciousness, which is the reality of our true identity as a spiritual being. Mantras also create an uplifting and meditative atmosphere for inner communion and one-pointed ness of our concentration.

The *Pranava* or Om is the universally accepted symbol of Hinduism, and Vedic culture. Literally the word *Pranava* means "That by which God is effectively praised." It also means, "That which is ever new. Om is the sacred sound of Brahman. Of all the Vedic verses, the most powerful and significant word is the single-syllable incantation called *Pranava* or OM. Om has been extolled highly in the *Vedas,* the Upanishads and the Bhagavad-gita as also in other scriptures. It is belived one's own beastly nature may be conquered by repeatedly chanting OM. Generally before chanting a mantra Om should be pronounced. Om is the *Akshara,* or imperishable syllable. Om is the Universe. It is the best name of God. The past, the present and the future, all that was, all that is, all that will be, is Om. Likewise, all else that may exist beyond the bounds of time, that too is Om. This all is said in Mundaka Upanishad.

The Yajurveda exhorts us to try to realize Brahman through, chanting, repeating or remembering OM. The Kathopanishad declares that Om is Prabrahma (the Absolute Self) Itself. The Mandukyopanishad advises the spiritual aspirants to meditate on the unity of the Atman (Self) with Brahman (God) using OM for *Japa* (repeated chanting). Shri Krishna states in the Gita that He himself is OM among all words. All religious rites are started with the chanting of OM. Not only that, if anyone succeeds in chanting OM at the time of his death, simultaneously thinking of God, he attains the highest Truth according to ancient belief. The Yoga Sutras of Patanjali declare that *Pranava* is the symbol of God and that one can attain *Samadhi* by its repetition, and meditation on Him.

The symbol Om is used for invocation, benediction, ritual worship, festivals, and religious ceremonies. It represents three separate sounds. 'A' 'U' 'M' plus the nasalization and resonance of the sound. It is said that within the 'AUM', Vishnu is 'A', Brahma is 'U' and Shiva is 'M'; *bindu* (dot) is the trinity in unity while the *nada* (crescent) symbolizes transcendence. In the Upanishads, however, AUM is the symbol of the *nirguna* (formless) Brahman, without attributes, beyond human consiousness and duality.

8. Concept of Social Uity and Welfare of All

In the Rigveda-Samhita we find a unique prayer for social unity. It is called Samjnana sukta. The term '*Samjnana*' gives the sense of unity in thoughts. The unanimity and harmony on mental and intellectual level among the people gathered is its purpose. The devotee invokes the Lord of creation to inspire mankind with eh feeling of love, and the Lord commands that all should be bound together with a common aim, common thought and common will. The verse says-

Sam gacchadhvam sam vadadhvam
sam vo manamsi janatam/
Deva bhagam yatha purve
samjanana upasate// (Rig. 10/191/2)

Translation : You should move together, speak together and think together. As the ancient gods with one accord accept their sacrificial share, so your minds should be of one accord.

Here '*Deva*' may also mean elders of divine qualities. Just as they with full consciousness, played their part in life, so you should follow them.

Another prayer from Yajurveda is worth mentioning here. It is for the feeling of Goodness among all beings. Here the term '*Bhadra*' is used which means 'goodness'-

Bhadram karnebhih s'unuyama devah
Bhadram pas'yemakshabhir yajatrah/
Sthirairangaistushtuvansas tanubhir
Vyas'emahi devahitam yad ayuh// -V.A.S. 25.21

Translation : O Gods! may we listen with our ears to what is good (*Bhadram*), may we see with our eyes what is good, O Gods! Worthy of worship! may we, with firm limbs and bodies, offering praise-songs to you, enjoy the divinely ordained term of life (*Ayu*).

The full span of life is important but more important is that is should be good and auspicious. Our life should be devoted to welfare and noble qualities. Thus Vedic religion believes in the walfare of all beings for global harmony and peace.

9. Wish for Swasti *and Swastika*

In Vedic religion importance is given to the desire of *Swasti,* to be auspicious and favorable. The term *swasti* emanates from the Sanskrit word *swasti=su* (good) + *asti* (being).

Om Swasti na indro vridhashravaha,
Swasti nah pusha vishvavedahah/

Swasti nastarkshyo-aristanemih
Swasti no brihaspatirdadhatu// (Y.S. 25/19)

This sacred mantra of the Yajurveda is a *swastivachana* - a prayer, an ardent aspiration, for the highest good and well-being of all beings, of everything, of the whole universe. Heart-felt chanting of this hymn is an integral part of initiating every religious sacrament or important family ceremony in the Vedic cultural rituals. It conveys the core and central meaning hidden in the symbol of swastika, used later in Hindu religion.

10. Vedic morals

Vedic religion is based on ethics and morality. What should be done and what should not be doen – is the foundation of moral instruction. Here cosmic order is called *Ritam* which is controlled by Varuna Deva. Even gods follow it. All universal activities follow certain discipline, so why not men? *Satyam* is another moral value for deities and for men. Earth is sustained by *Ritam* and *Satyam*.- '*Satyen Adhrita Prithivi*'.

Diksha (action), and *Tapas* (austerity) are other values. Always untruth is condemned-

'*Satyameva jayate nanritam*' (M.U. 3/1/6)

- Always truth is victorious, not untruth.

Another famous saying from Upanishad points out to 'study' as a virtue-

'*Satyam vada dharmam cara swadhyayat ma pramada.*'
(T.U. 1/11/1)

- Alwasy speak truth, do right deeds and don't leave study.

Indian moral values have their root in Vedas. They are in deed the source of Dharmashashtras and epics.

Finally, we can say that Vedic religion is an eternal and universal religion. It talks about welfare of all beings. It recommends rituals for worldly pleasures and achievements. It aims for the purity of mind. It shos the path of knowledge and salvation. The views of Vedic seers on philosophy, ritual, society and culture constitute an idea about 'Vedic Religion'. Here an attempt has been made to discuss in brief some of the major aspects of Vedci religion.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (148-152) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

Concept of Puruṣa (Akāl Purukh) as God in the Vedas and the Śri Guru Granth Sāhib

Prof. Roop Kishor Shastri

Department of Veda,
Gurukul Kangri University,
Haridwar (U.K.), India

Paramātman is referred to by different names like Śiva, Viṣṇu, Brahman, Indra, Mitra, Varuṇa, Bṛhaspati, Savitā, Agni and so on in the Vedic literature, particularly in the Vedic Samṁhitās. The wise speaks of the One by different names.[1] Over a hundred words have been used in the Vadas for Him of which Puruṣa is of the most frequent occurrence found in about eighty hymns. The Suktas too refer to Him by this name. With the exception of a few uses where consideration of context would make it a synonym of man, everywhere else it signifies the Great Entity. Of those hymns where that Entity referred to the Puruṣa Sukta[2] is the most well-known, being met with in all the Vedas with the exception of the *Sāmaveda*.

The post-Vedic literature as also all religions together with the sages, seers, preceptors, saints and great men owing allegiance to the Vedas have been theistic, the believers in God. Sikhism originated in the 16th century A.D. All the Gurus who founded it have been believers in God. The difference among them is not noticeable in the different names for God in their Bāṇis. They believe in what the Vedas propound. Taking them to be the ture and authoritative texts they speak of their glory in great devotion.

Kālā ganthu nadi ā moh jhola ganthu pariti bola
Vedā ganthu bole sachu koi muiā ganthu ne ki satu koi.
Śri Guru Grantha Sāhib (=S.G.G.S.), p. 116

Veda sāstran jana pukārhin sunai nāhi dorā.
Nepati bāji hāri mukā pachatāio mani morā.
S.G.G.S., p. 408

Veda kate va kahahu mata jhūthe, jhūthā jo na bichāre.
S.G.G.S., p. 1340

Chāron veda hoe sachiaar pathahi guṇahi tinu chār vichāra.
S.G.G.S., p. 470

Satta sadaiva sarūpa veda kateb tu hi upajāyo.
S. Pāt. 10 GuruGobindji.

In the Bāṇis of Guru Gratha Sāhib there are words like Rāma, Rahima, Govinda, Hari, Allāh, Kartār for God not found in the Vedas. In the Ādi Guru Granth Sāhib every musical composition is preceded by the recitation of the Guru-mantra as introduction of auspiciousness and through this is remembered the Supreme Reality, The brahman.[3] Where necessary, its brief form *Om Sata Guru Prasādi* is also recited here and there. The Gurumantra tells that it is God, the Supreme Being, referred to by His more prominet name Omkāra, if of the form of truth. He is the originator of the creation, is self-born and is realizable through the grace of God. Guru Nānaka takes God to be formless and beyond the three guṇas Sattva, Rajas and Tamas:

rūpa na ranga na rekha kucha, trihu guna te prabhu bhinna.
S.G.G.S., p. 283

This Akāl Purukha, the Timeless Entity, according to him, has no form whatsoever. His belief he expresses in the following words:

Eko simaro Nānakā jala thala rahia samāi/
duja kāhe simario janmai te mari jai//

prāṇa adhāra mita sājana prabhu ekai Omkārai/
sab te uncā thākur Nānak bāra-bāra namaskārai//
S.G.G.S., p. 716

His idea is quite clear. He who is all-pervasive, unborn, equable, that Brahman is Akāl Purukha. Omkāra referred to above has its source in the Vedic hymns. In Guru Granth Sāhib, in the Bāṇis of the Gurus, and wherever there is reference to Akāl Purukh, He is said to be of the form of truth, consciousness and bliss with no fear, all-powerful, just, unborn, boundless, changeless, formless, beginningless, incomparable, all-supporting, the lord of all, knowing the inner feelings of every one, ageless, immortal, fearless, eternal, the purest of the pure and the originator of the creation. In Guru Granth Sāhib, Guru Arjun Dev has described Him in his form of time as the creator of day and night.[4] The Veda speaks of him as the creator of time even and such other entities. None can perceive His other side. He is all-pervading and beyond the three-fold time. Since he is not bound by time, He is timeless or Akāl.[5] Guru Nānak Dev has dedicated all his devotion to the syllabic essence Om and has spoken of him as the creator of the universe.[6] His fame has no limit, He has no icon, no form.[7] He permeates everything.[8] He is

formless, self-born with no physical existence and is removed from sin and such other vices.[9] The Vedas speak of Him as unborn with no birth and death.[10] He is boundless, all-pervading, knower of beings, the universe, the nature, the past, the future and the present and moving alone in the universe bestowing happiness.[11] He has no worldly desires, is ageless, immortal and self-born.[12] The Supreme Being, the Parama Puruṣa, the creator of the universe is descirbed as the knower of inside out[13] with no fear.[14] The entire Puruṣa Sukta in the Ṛgveda, Yajurveda and Atharvaveda lays bare the essence of the mystery of this Supreme Being, the Akāl Puruṣa. According to Guru Granth Sāhib God is all excellence and all-illumination. This is what Guru Amar Dās has said in his Bāṇi.[15] For realizing Him it is futile to roam about in the forests or the mountains or meditate in the caves or proceed on pilgrimages. He is present in all. He can be realized only through devotion and His grace.

Even the etymology of the word (Akāl) Puruṣa occurring in the Vedas and Guru Granth Sāhib, which could well be taken as its minute meaningful explanation, throws light on his nature. The *Śatapatha Brāhmaṇa,* which is the explanatory treatise on the *Yajurveda* speaks of *pu* which could designate all the worlds. One who purifies or permeates this *pu* is Puruṣa, according to it.[16] Yāska also has a similar etymology for it (Puruṣa).[17] He explains the word to mean 'one who knows the inside out of this universe and is its support.' As proof of it he reproduces the words of the *Śvetāśvatara Upaniṣad* where it is said that there is nothing beyond Paramātman, nothing is bigger or smaller than Him. He alone is permeating the universe.[18] Maharṣi Dayānand, the exponent of the Vedas, has said that He through His all-pervasiveness sustains this world, all that moves in it or is stationary and continues to impart fullness to it. Supreme Paramātman is the meaning of the word Puruṣa.[19]

That all-pervasive Paramātman is referred by His prominent name Om or Omkār.[20] Om or Pranava is also considered as the bridge for the *mantras; mantrāṇam praṇavah setuh.* Without the pre-fixture of Om the singing aloud or recitation of any *mantra* is considered incomplete. In a similar vein Guru Granth Sāhib also begins with Om: *Ek Omkāra, satnam karta purukh* etc. Elsewhere too in the words of Guru Granth Sāhib the utterance of Om is emphasized.[21] In Guru Granth Sāhib the syllable Om is said to be the revealer of the Vedas and the creator of the world and is eulogized as such in great devotion. The sage Patañjali in *Yoga Darśan*[22] has clearly descirbed it as the word for Pramātman while the commentator of his work, the sage Vyasa, has interpreted it as

Iśvara.[23] The Veda has accepted it as the principal means for meditating on One God.[24] Guru Nānak Dev has descirbed it (Om) as remaining constant under all circumstances, indestructible, beginningless, allpervasive and of the form of truth.[25] According to the *Māṇḍūkya Upaniṣad* the syllable Om is eternal Brahman who is past, future and present in a miniscule form.[26] Aksara, in Sanskrit is from the root *kṣar,* 'to move' with the prefix (A) *na (nañ)* in the sense of negation. Another of its etymology traces it to root *as (asun),* 'to pervade, to permeate' with the addition of the desiderative suffix *saran,* meaning 'one who is present everywhere'. The sage Dayānand[27] taking both the above etymologies into consideration has explained it as 'the one that covers everything, yah *sarvam aśnute* and as 'one that does not vanish', *na kṣarati.*[28] As per the commentator of the *Cāndogya Upaniṣad* it is the most appealing means for meditating on Brahman and its symbol.[29] The *Yajurveda* says that a person climbing on the chariot of Om realizes the immortal Āditya-Puruṣa, i.e. Akāl Puruṣa, and releases from death as also from sins. There are no means other than that.[30]

Refernces

1. *Indra mitram varuṇamagnimāhuratho divyah sa supar ṇo garutmān. ekam sadvipra bahudhā vadantiyagnim yaman mātariśvānamāhuh.* Ṛgveda 1.164.46
2. *Sahasraśirṣā puruṣah sahasrākṣah sahasrapād. Sa bhūmim sarvatah sp, tvātyati ṣ-atdaśāngulam.* Yajurveda 31.1
   Vedāhametam puruṣam mahāntamāditya varṇam tamasah parastāt. Tameva viditvātimṛtumeti nānyah panthā vidyateayanāya. Yajurveda 31.18
3. *Om satināmu kartā purakhu nirbhau nirvairu akāla murati ajūni saibham guru prasādi.* S.G.G.S., 1
4. *Omkāra utpatti kiyā divasa sava rāta*. S.G.G.S., p. 1003
5. *Sarve nimeṣā jajñire vidyutah puraṣādadhi. Nainamūrdhvama na tiryañcam na madhye parijagrabhat*. Yajurveda 32/2
6. *Omkāra brahmā utpati Omkāra kiyā jina chita. Unana akhar suna bicāra uttama akhar tribhuvanan sāra*. S.G.G.S., p. 929-30
   Agama agocaru anāthu ajoni guramti ekai jāntā. S.G.G.S., p. 682
7. *Na tasya pratimā asti yasya nāma mahadyaśah*. Yajurveda 32/2
8. *Sa otah protaśca vibhu prajāsu.* Yajuruveda 32.8
9. *Sa paryagāchhukramakāyamavraṇamasnāviram śuddhamapāpaviddham. Kavirmaniṣi paribhuh svayambhu yāthātathyatorthānvyadadhāth śāśvatibhyah samābhyah.* Yajurveda 40.8
10. *śanno aja ekapāddevo astu.* Ṛgveda 1.35.13

11. *Anantam vitatam purutrānantamantavaccā samante.*
Te nākapālścarati vicinvan vidvān bhutamuta bhavyamasya. Atharvaveda 10.1.12
12. *Akāmo dhiro am,tah svayambhu rasena tpto na kutaścanonah.*
tameva vidvāna na vibhāya mritorātmānam dhiramajaram yuyānam. Atharvaveda 10.8.44
13. *ya imā jajānānyadyuṣamākamantram babhuva.* Ṛgveda 10.82.7
14. *Urvaśyāmabhayam jyotirindrah.* Ṛgveda 2.27.14
15. *Vedā mahi nāmu uttamu so suṇahi nāhi phirahi jiu betāliā.* S.G.G.S., p.199
16. *Ime vai lokāh puh. Ayameva puruṣah. yoayam pavate soasyām puri śete tasmāt puruṣah*. Śapatha Brāhmaṇa 13.6.2.1
17. *Pūrayatyantarityāntarapuruṣamabhipretya.* Nirukta 2.3
18. *Yasmāt param nāparamasti kincit.*
Yasmānnāṇiyo na jyāyoasti kaścit.
Vrikśa iva stabdho divi tiṣthatyekah
Tendam purṇam puruṣe ṇa sarvam. Śveta Upaniṣad 3.9
19. *Yah svavyāptyā carācaram jagat p, ṇāti pūrayati vā sah puruṣah.* Satyartha Prakasha. (Prathama Samullāsa)
20. *Om kham brahmā.* Yajurveda 40.50
21. *Hari jū sadā dhyāya tū gurumukha ek omkāra.*
Omkāra brahmā utpata omkāra ved nirmāye.
Jala thala mahithala puriā swāmi sirajanhāra.
Aneka bhānti hoi pasariā nānak ek omkāra.
Om akkhara sunahu vicāra, om akkhara tribhuvana sāra.
Praṇvo ādi ek omkārā jala thala mahiyala kiyo prasār. S.G.G.S., p. 929-30
22. *Tasya vācakah praṇvah*. Yoga Darśan 1.27
23. *Vācya iṣwarah praṇavasya.* Yoga Darśan 1.27
24. Om krato smara. Yajurveda 40.15
25. *Ādi anilu anādi anāhati jugu jugu eko vesu.*
Ādi sacu jugādi sacu hai bhi nānak hosi bhi sacu. S.G.G.S., p. 18
26. *Omitiyetadakṣaram, idam sarvam tasyopakhyānam bhūtam bhavat bhaviṣya-diti sarvamomkārameva.* Māṇdukya Upaniṣad 1
27. Satyartha Prakasha (Prathama Samullāsa)
28. Uṇādi. Koṣha. 3.70
29. *Omitiyetadakṣaram parmātamanobhidhānam nedhis-am. Tasmin hi prayujyamāne. Sa prasidati priyanāma*. Chāndogya Upaniṣad Sānkar Bhāṣya 1.1.1.1
30. *Vedāhametam puruṣam mahāntamādityavarṇam tamasah parastāt.*
tameva viditvātim, tumeti nānya panthā vidhyateaynāya. Yajurveda 31.18

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (153-160) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

Sources of Vedic Economy in the Brāhmaṇas of Yajurveda : Some Observations

Dr. Aparna Dhir

Assistant Professor,
Institute of Advanced Sciences,
Dartmouth, USA

Abstract

Economy stands for an entire network of producers, distributors, and consumers of goods and services in a local, regional, or national community. 'Artha' i.e. wealth considered as the basic need for social progress. In the age of Brahmaṇas, for well functioning of the society, different agricultural operations such as ploughing, sowing, threshing etc and cattle are co-related for each other's existence. Apart from these major sources, Vedic economy consists of many skillful people as well.

In our fourfold values of life, '*Puruṣārtha*' viz., *Dharma, Artha*, *Kāma* and *Mokṣa; 'Artha*' i.e. wealth considered as the basic need for social progress, *Arthaśāstra* says '*Arthamuūlau* hi *dharmakāmau*'. Generally, prayers related to gaining of wealth found in *brāhmaṇas* - 'O Agni, and increase our substance (रयि)! Substance, doubtless, means affluence: 'grant to us ever-increasing affluence (पुष्टि)!" or '*Viśvo rāya iṣudhyati*'.[1] The prose text of *Shukla Yajurveda* and *Krishna Yajurveda* namely *Śatapatha Brāhmaṇa* and *Taittirīya Brāhmaṇa* provides a rich data on ancient economic development.

During Vedic era, the economic condition of Vedic Aryans was progressively good. For better livelihood they manufacture their basic necessities of life themselves. Prosperity is described by *brāhmaṇas of Yajurveda* in meaningful words. A person is considered superior if he becomes prosperous by attaining most of the wealth.[2] This actually throws light on the economic structure of the brāhmaṇical society. One can classify the economic set up of that period on the basis of different occupations. It is noteworthy that every person of the society

has full freedom of choosing his respective occupation. The occupations mentioned as under were basically the occupations in force during that period.

A student of economic-history would always like to know the *brāhmaṇakāras* way of living or their sources of economy. If one discuss about the set up of Vedic economy, he sees that buying and selling of goods were present; 'goods should be purchased'[3] this phenomenon treated as an important factor in Vedic economy otherwise people may fall into the habit of cheating. A tradition of offering a gold coin to the one; who took part in formal academic discussions and outshines among all the debaters.[4] During brāhmaṇical period, king used to collect taxes from the people of his nation.[5] *'Bhāgadugha'*[6] i.e. tax-gatherer or collector of taxes was also present in the ancient society. At some places, Brāhmaṇa observes '*Saṁgrahītṛ*'[7] as the treasurer. In his commentaries, *Sāyaṇācharya* explains '*Saṁgrahītṛ*' as *Koś-vṛddhikārī*[8] and *Kośādhyakṣa*[9]. '*Gaṇaka*' is refer as a person who counts (TB 3.4.15.1). It is assumed that one who handles (counts) income and expenditure details is known as '*Gaṇaka*' i.e. cashier.[10] The word '*Tulā*' suggests the trend of measurement of goods in Vedic society.[11] People exchange their goods or the sacrificial fee (paid as honorarium) to priests consists of gold, silver, bull or animals.[12] The measurement units are '*Māna*' or *Śatamāna* i.e. Gold or silver equivalent to the weight of hundred (grains) – ष्टतस्यै त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा, रजतं हिरण्यं दक्षिणा नानानूपतायाऽ– अथोऽउत्क्रमायानपक्रमाय शतमानं भवतिष्ठ.[13] *Sāyaṇa* explains these above measuring units as 'मानशब्देन पणस्य विंशो भागोऽभिधीयतेष्ठ.[14] All these above mentioned sources are the secondary sources of economy. Primary sources of economy in form of occupations may be classify as under :-

Farmer

In the age of *Brāhmaṇas*, for well functioning of the society, the principal means of income was agriculture. The *Śatapatha Brāhmaṇa* mentions different agricultural operations such as ploughing, sowing, reaping and threshing etc.[15] Consciousness about the use of different agriculture tools such as spade (SB 3.5.4.4), sickle (SB 7.2.2.5), shovel (SB 7.5.2.52) and cow-dung (SB 12.5.2.3) as manure was there. These all are the components of prosperous farming.

Herdsman

Agriculture and cattle are co-related for each other's existence. Cattle were used mainly for agriculture purpose.[16] Cattle identified as wealth[17] and success[18]. Hence, the person is consider as prosperous if

he has more cattle.[19] Sixth kāṇda of *Śatapatha Brāhmaṇa* clearly point outs the dependence of humans upon cattle.[20] On the other hand, *Taittirīya Brāhmaṇa* discloses many professions related to the training or care of animals such as *Aśvapa* (trainer of horses), *Ajāpāla* (goat-herd), *Avipāla* (shepherd), *Gopāla* (cowherd), *Hastipa* (trainer of elephants).[21]

Dairyman

Cow was known as the source for dairy products like fresh milk, boiled milk, cream, sour curds, sour cream, curdled milk, butter, ghee. All these dairy products were used extensively in sacrifices.[22]

Weaver

The process of weaving of cloth was known at that time.[23] *Kuśā* grass used for the purpose of clothing.[24] Stitching and sewing was done with the help of a needle and cord.[25] Like modern times, females of that period as well used to do embroidery, they were called as '*Peśaskarī*'.[26] Apart from this, people were commonly use wool in sacrifices.[27]

Goldsmith

Goldsmith was known as '*Hiraṇyakāra*' (TB 3.4.14.1).[28] Immortality of gold was acknowledged in many stanzas of *Śatapatha Brāhmaṇa*.[29] Gold threads were used for weaving or wroughting of cushions and stools because of its immortal characteristic.[30] As gold has weight[31], thus it is used in ornaments. The words '*Rukma*' and '*Niṣka*' used for gold ornaments which is generally worn on neck or chest but sometimes the *brāhmaṇs* took '*Niṣka*' as gold coins.[32] Macdonell & Keith mentioned '*Niṣka*' as popular form of currency during Vedic era.[33] Use of gold bricks or gold plates was there in sacrifices.[34]

Potter

People were aware of the use of cart wheels or potter's wheel. Its unstableness is identified with the motion of three worlds.[35] *Taittirīya Brāhmaṇa* (3.4.3.1) recognizes efforts or hard work with '*Kaulālaṁ*' i.e. Potter – '*श्रमाय कौलालम्*'.

Barber

For being pure all over before sacrificial rituals, a sacrificer was supposed to shave hair of his head and beard, and also cut down his nails. For this purpose, a barber was called during sacrificial ceremonies.[36]

Carpenter

'*Takṣaṇa*' is the one who crafts various goods from wood.[37] Chariots and bullock carts seem to be the vehicles of that age.[38] We often found references of chariots or bullock carts in various activities.[39] People use wood for creating vessels, spades, pegs, seats etc. For example wood of *Udumbara* tree is used for making throne-seats (SB 12.8.3.5) and ploughs (SB 7.2.2.4).

Fisherman

Taittirīya Brāhmaṇa indicates some vocabulary related to fishing profession. Like *Dhaivara* (one who catches fish), *Dāśa* and *Śauṣkula* (by fish-hook), *Bainda* and *Maināla* (by fish-net), *Kaivarta* (collecting fish).[40]

Hunter

Hunting was also done.[41] A person who hunts deer was called as '*Mṛgayu*'.[42]

Steersman or Sailor

A skill in steering a ship is called Steersmanship. One stanza of *Śatapatha Brāhmaṇa* reveals the presence of transportation through sea by narrating "as Agnihotra is consider as the ship (that sails) heavenwards, so milk-offerer is the steersman i.e. '*Nāvājḥ*' of the heavenward-bound ship"[43]. Here, '*Nau*' stands for Boat and '*Nāvḥ*' stands for Ship.

Musician, Singer and Dancer (Actor)

Taittirīya Brāhmaṇa reads a list of musicians such as *Talava* (one who plays mouthorgan), *Tūṇavadhma* (one who plays lute), *Dundubhyā-ghāta* (drum beater), *Viṇavāda* (viṇā player).[44] Whereas, *Śatapatha Brāhmaṇa* refers only to *Viṇā* as musical instrument. There are passages indicating the presence of Musician and Singer in the brāhma-ṇical society.[45] *Taittirīya Brāhmaṇa* refer to the performer who acts in plays.[46] In another stanza, it is revealed that self composing of music and different notes of music such as '*Uttaramandrā*' was known 'ब्राह्मणो वीणागाथी दक्षिणत उत्तरमन्द्रामुदाघ्नंस्तिस्त्रः स्वयंसम्भृता गाथा गायतीत्य'.[47] Eggling describes '*Uttaramandrā*' tune as 'literally, the 'upper deep' one, i.e. perhaps one the chords of which are pitched in the upper notes of the lower key'.[48]

Manufacturer of Mats, Seats, Baskets and Ropes

Vidalakāra i.e. a maker of winnowing-baskets (*Supa or Pha-akanī*) etc by bamboo-pieces was prevalent during that time.[49]

People used to weave throne-seats with reed-grass.[50] The *Asvavala*-grass is used for twine, mats, thatch.[51] Also, the mats of *Plaksha* branches were prepared in the days of *brāhamṇas*.[52] *Rajjusarga* i.e. rope-maker was also known for manufacturing long ropes – 'दिष्टाय रज्जुसर्गम्'.[53]

Manufacturer of Leather

Many references are there in *brāhmaṇas* that reveal importance of Black antelope's skin. Black antelope's skin was regarded as fulfillment of sacrifice; hence it is used for husking and bruising of the rice.[54] Leather bags were in use.[55] *Kośa-kāri* used to develop leather sword-case to carry swords – 'खड्गादीनां चर्ममयकोशकारीं वा'.[56] A person who prepares dresses of leather is known as *Ajina-Sandhāya*.[57] *Śatapatha Brāhmaṇa* talks about skins of lion (5.4.1.9) and sheep (3.9.1.12) as well.

Knower of metals

Some metals have been noted by the *brāhmaṇakāras*. Lead was a known metal at Vedic age[58], as it is said that lead is neither iron nor gold.[59] This shows the surety of knowledge about metals among Vedic people. The *Śatapatha Brāhmaṇa* narrates in a passage about the occurrence of gold 'from the stone metal ore: whence from stone they melt ore; form ore gold'[60] i.e. when iron is cast, it gets the brilliance of gold. Fifth kāṇḍa of *Śatapatha Brāhmaṇa* reveals that lead is soft but is not expensive as gold.[61] The *brāhmaṇakāras* were well aware of the difference among metals such as copper (*kaṁsa*), lead (*Sisa*), tin (*trapu*), silver (*rajata*), iron (*ayas*) and gold (*hiraṇya*).[62] Also, the processing of metals on burning was known to them i.e. if gold burns, it would dissolve; and if copper burns, it would melt.[63] As explained by *Sāyaṇācharya* a woman who melts metals known as *Kośa-kāri* - 'कोशकारीं ताम्रलोहाध्मानकुशलां स्त्रियम्'.[64] *Taittirīya Brāhmaṇa* (3.12.6.5) talks about two types of Ayas i.e. *Kṛṣṇāyas* and *Lohāyasa*. Lowe[65] took *Kṛṣnāyas* as bronze and *Lohāyasa* as iron whereas Eggling[66] assumed *Lohāyasa* literally as 'red metal', apparently either copper, or an alloy of copper and some other metal. *Sāyaṇa* too described *Lohāyasa* as 'red metal'.[67]

Miscellaneous Occupations

Taittirīya Brāhmaṇa's fourth prapāthaka of third kāṇḍa communicates many professions of Vedic era. Bow (*Dhanvakāra*), bow-strings (*Jyā-kāra*) and arrow maker (*Iṣukāra*) was there in Vedic society. Astronomers (N*akṣatra-darśa),* Astrologers (*Gaṇaka*), Fence-maker (*kaṁ-aka-kāra*), Barber or Sower (*Vapa*), Piercer (*Pracchida*),

Servant (*Pariṣkanda*), Physician (*Bhiṣaj*), Jeweller (*Maṇikāra*), Merchant (*Vāṇija*), Wine-maker (*Surākāra*) etc; were some of the professionals that represents Vedic economy. It is interesting to know that *Śatapatha Brāhmaṇa* uses the word '*Śilpa*'[68] for describing the sense of '*Pratirūpa*'. Even today, the people who are in the profession of creating conformable products are known as '*Śilpakāri*' *or* '*Śilpī*' i.e. artists, craftsmans etc.

Conclusion

All these were the base of Vedic economy, which consists of skillful people. Economy stands for an entire network of producers, distributors, and consumers of goods and services in a local, regional, or national community. The above mentioned occupations informs about the various sources of economy that prevails during Vedic era. Also, it highlights on the entire set up of the Vedic society, where even an individual running small business constitutes an integral part of society's economic growth.

This highlights that people during brāhmaṇical period were resourceful, which makes them prosperous. Above mentioned examples of different occupations from the oldest prose writings provide valuable information of the economic civilization of the Vedic period. For summarizing the economic development and progress of that era, one may say; apart from the principal means of livelihood i.e. agriculture and cattle traces of craftsmanship was also found. Collectively all these miscellaneous activities generate income in Vedic era.

Notes and References –

1. SB (*Śatapatha Brāhmaṇa*) 2.3.4.12-13, 3.1.4.18
2. अस्यै भूयिष्ठं विन्दते/लभते स एव श्रेष्ठो भवति। SB 11.1.6.23, 12.6.1.40
3. SB 3.2.4.7
4. SB 11.4.1.1
5. SB 1.3.2.15
6. SB 5.3.1.9, 1.1.2.17; TB (*Taittirīya Brāhmaṇa*) 3.4.8.1
7. SB 5.3.1.8; TB 3.8.5.3
8. Pushpendra Kumar, *Taittirīya Brāhmaṇa*, Part-III, p. 1054
9. Ram Kumar Rai, *Vedic Index*, Part-II, p. 460
10. Kapildev Dvivedi, *Vedon Mein Samājaśātra, Arthśāstra Aur Śikṣāśāstra*, p. 190
11. SB 11.2.7.33
12. तस्य हिरण्यं दक्षिणा। SB. 5.3.1.1, 2.2.3.28 etc.
13. SB 5.5.5.16, 13.2.3.2, 13.4.2.10, 13.4.2.13; TB 1.3.7.7
14. Pushpendra Kumar, *Taittirīya Brāhmaṇa*, Part-I, p. 149
15. SB 1.6.1.3, 7.2.2.7

16. SB 3.3.4.11
17. SB11.8.3.3
18. पशवो यशो। SB 12.8.3.1
19. तद्वै समृद्धं यस्य कनीयासो भार्या असन्भूयासः पशवः। SB 2.3.2.18
20. देवमनुष्याः पशूनुपजीवन्ति। SB 6.4.4.22
21. अर्मभ्यो हस्तिपम्। जवायाश्वपम्। पुष्टयै गोपालम्। तेजसेऽजपालम्। वीर्यायाविपालम्। TB 3.4.9.1
22. SB 3.3.3.2
23. SB 3.1.2.18
24. कौशं वासः परिधापयति। SB 5.2.1.8
25. अथ लस्पूजन्या स्पन्द्यया प्रसीव्यति। SB 3.6.1.25
26. निष्कृत्यै पेशस्कारीम्। TB 3.4.4.1
27. SB 12.5.1.13
28. 'वर्णाय हिरण्यमणिमुक्तादिगतभास्वरत्वाभास्वरत्वाभिमानिने हिरण्यकारं कटकमुकुटादिनिष्पादकम्, Pushpendra Kumar, *Taittirīya Brāhmaṇa*, Part-III, p. 873
29. ज्योतिर्वाऽअमृतं हिरण्यं। SB 5.4.1.12, 6.7.1.2, 12.5.2.6 etc.
30. SB 5.3.5.15, 13.4.3.1
31. TB 2.2.4.5-6
32. SB 3.5.1.20, 11.4.1.8, 13.4.1.7-8, 13.4.1.11 etc.
33. Ram Kumar Rai, *Vedic Index*, Part-I, p.513-514
34. SB 6.1.2.30, 9.2.1.1, 13.4.1.6
35. इदं रथचक्रं वा कौलालचक्रं वाप्रतिष्ठितं क्रन्देदेवं हैवेमे लोका अध्रुवा अप्रतिष्ठिता आसुः। SB 11.8.1.1
36. तत्केशश्मश्रु च वपते नखानि च निकृन्ततेऽस्ति वै पुरुषस्यामेध्यम्। SB 3.1.2.2
37. धैर्याय तक्षाणम्। TB 3.4.2.1
38. Sunanda K. Tilak, *Cultural Gleanings from The Brāhmaṇa Literature*, p. 136
39. TB 3.3.7.5; SB 13.4.2.17
40. सरोभ्यो धैवरम्। वेशन्ताभ्यो दाशम्। उपस्थावरीभ्यो बैन्दम्। नङ्वलाभ्यः शौष्कलम्। पार्याय कैवर्तम्। विषमेभ्यो मैनालम्। TB 3.4.12.1
41. SB 1.1.4.1
42. TB 1.5.1.1, 3.4.3.1
43. नौर्हवाऽएज्ञा स्वर्ग्या। यदग्निहोत्रं तस्याऽएतस्यै नावः स्वर्ग्याया। SB 2.3.3.15
44. महसे वीणावादम्। क्रोशाय तूणबध्मम्। आक्रन्दाय दुंदुभ्याघातम्। TB 3.4.13.1, वीणावादं गणकं गीताय। आनन्दाय तलवम्। TB 3.4.15.1
45. SB 3.2.4.6, 13.1.5.1-6, 13.4.3.3
46. TB 3.4.2.1
47. SB 13.4.2.8
48. Julius Eggeling, *The Śatapatha Brāhmaṇa*, Part-V, p. 356
49. पिशाचेभ्यो बिदलकारम्। TB 3.4.5.1
50. राष्ट्रं वाऽआसन्दी। अपरिमितसमृद्धमु वै राष्ट्रं मुञ्जविवयना भवति। SB 12.8.3.6
51. Julius Eggeling, *The Śatapatha Brāhmaṇa*, Part-II, p. 89
52. SB 13.5.3.8
53. TB 3.4.1.3

54. SB 1.1.4.3
55. SB 1.1.2.7
56. Pushpendra Kumar, *Taittirīya Brāhmaṇa*, Part-III, p. 870
57. TB 3.4.13.1
58. SB 12.7.1.7; TB 3.12.6.5
59. SB 5.1.2.14; TB 1.8.5.3
60. अयसो हिरण्यं तस्मादयो बहुध्मातं हिरण्यसंकाशमिवैव भवति। SB 6.1.3.5
61. तस्मात्सीसं मृदु। SB 5.4.1.10
62. SB 5.1.2.14, 5.4.1.2, 13.2.2.16; TB 3.12.6.5, 3.12.2.9
63. प्रदह्येत यद्हिरण्मयः स्यात्प्रलीयेत यल्लोहमयः। SB 14.2.2.54
64. TB 3.4.10.1
65. Ramesh Kumar Lowe, *Language of the Taittirīya Brāhmaṇa,* p. 233
66. Julius Eggeling, *The Śatapatha Brāhmaṇa*, Part-III, p. 90
67. Pushpendra Kumar, *Taittirīya Brāhmaṇa*, Part-III, p. 1277
68. यद्वै प्रतिनूपं तच्छिल्प। SB 3.2.1.5

Bibliography –

1. Julius Eggeling, *The Śatapatha Brāhmaṇa,* Motilal Banarsidass, Jawahar Nagar, 5 Vols, 1963
2. Svami Satya Prakash Sarasvati, *The Critical and Cultural Study of The Śatapatha Brāhmaṇa*, Govindram Hasanand, Nai Sarak, Delhi, 1988
3. Sunanda K. Tilak, *Cultural Gleanings from The Brahmanòa Literature*, Delhi, 1990
4. Ramesh Kumar Lowe, *Language of the Taittiriya Brāhmaṇa,* Indo-Vision Pvt. Ltd., Nehru Nagar, Ghaziabad, 1987
5. (Ed.) Pushpendra Kumar, *Taittirīya Brāhmaṇa*, Nag Publishers, Jawahar Nagar, 2003
6. (Ed.) Gangaprasad Upadhyaya, *Śatapatha Brāhmaṇa*, Govindram Hasanand, Delhi, 3 Vols, 2003
7. Kapildev Dvivedi, *Vedon Mein Samājaśātra, Arthśāstra Aur Śikṣāśāstra*, Vishva Bharti Research Institute, Gyanpur, 2002
8. (Hindi Trans.) Ram Kumar Rai, *Vedic Index*, The Chowkhamba Vidyabhawan, Varanasi, 2 Vols, 1962
9. Dhirendra Kumar Singh, *Brāhmaṇa-Grantho Mein Pratibimbita Samaj Evam Sanskriti*, Penman Publishers, Delhi,1993

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (161-169) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

A review : Relevance of Ṣat-chakra on Life style disorder disease

Nishkarsh Sharma
Yoga Instructor,
Dept. of H.C & Y.Sc,
Gurukul Kangri Vishvavidyalaya

Abstract

After exhausted review of available literature related to *manipura chakra,* it is concluded that all the abdominal organs share a close relation with chakra and the yoga technique like *uddiyana bandha, bhastrika pranayama, pawanmuktasana* etc affect directly on *manipura chakra* thereby affecting abdominal organ's physiology and pathology i.e. Type2DM, Obesity, IBS. Thus *manipura chakra* is the basic anatomical entity which is affected by these *yoga* practices and further improves the function of all the neurovascular channels in its vicinity. The purpose of this artical is to provide a scholarly review of the literature and regarding research studies related with the effects of yoga in the *manipura chakra* and other chakra vicinity on a variety of health outcomes and in diabetes/IBS/obesity and healthy conditions. Using different research database with the key word, *yoga* and type2 DM/ Obesity/IBS" a comprehensive search of the research literature from core scientific and nursing journals yielded 20 studies that met inclusion criteria. These studies were included in this review. *Manipura chakra* and other chakra and its relation with abdominal organ related disease searched through ancient Indian literature (***veda, upnishad and tantras***) cleared the aim of this article. In the studies reviewed, *yoga* interventions affecting *Shat chakra* appeared to be superior to only medical treatment in nearly every outcome measured in abdominal organ related diseases i.e. Type2DM, Obesity, IBS except those involving emergency management in physical condition. The studies comparing the effects of *yoga on manipura chakra* and only medical treatment seems to indicated that, in both healthy and diseased populations, *yoga* may be as effective as or better at improving a variety of health-related outcome measures. Future clinical trials are needed to examine the

distinctions among *yoga* on different *chakras,* particularly how those modalities may differ in their effects. Additional studies using rigorous methodologies are needed to examine the health benefits of the various types of *yoga on manipura chakras. uddiyana bandha, bhastrika.*

Key Words: Kundalini, Shatchakra, Yoga, Asana, Pranayama, Pawanmuktasana

Introduction

Yoga is power to achieve the supreme state of life for living being. *Ayurveda* connects yoga to different pathological conditions in human being. *Ayurveda*-which means "The science of life" has become recognized today for its wonderful dietary, herbal; lifestyle and yogic therapy that help us live longer happier, wiser and more in harmony. *Ayurveda* mainly emphasizes on mind body balance which is the main key of being healthy. *Ayurvedic* ancient literature although very rich didnot described anatomy and physiology of nervous system in a elaborative manner. The nervous system in *ayurveda* is mostly the contribution of *tantra* system that comprises *trinadi sidhhant, satchakra sidhhant* etc. The *satchakra* system is directly responsible for our physical, emotional and spiritual health. According to many *tantric* texts, the human body contains *nadis* that channel *prana* to every cell. Some are wide and rushing; others are a mere trickle. When this system flows freely, we are vital and healthy; when it becomes weak or congested, we struggle with poor mental and physical health. The practices of *hatha yoga* are extremely effective because they strengthen the flow of *prana* in our bodies, invigorating the current so that it carries away obstructions that block the free flow of energy.

Between these *nadis*, one *nadi* is considered as the centre of all *nadis* and body's *pranik* energy that is *susumna nadi*. The *sushuman* (most gracious) *nadi* is running from the base of the spine to the crown of the head, passing through each of the seven *chakras* in its course. (The serpent power 1919, Thesis by Dr. Tirath Raj 2001)

Chakra description

Chakra verbally means "Wheels of light". These *chakras* included the centre of *electromagnetic energy* that are located throughout the body, they provide a way for energy to enter and exit our body and help to regulate all type of energy flow i.e. physical, mental, emotional and spiritual. Our body has 7 major and many minor *chakras*. (Shiv Samhita, 2002).These 7 *chakras* are situated from base of spine to the top of head. These are psychic centre of the astral body governing a group of functions. (The serpent power, 1919)

Anatomically these *chakras* are wheels of *neurovascular circulatory* channels attached to the connective tissue of human body in various shape and size, where from different branches spring up and are communicated with or distributed to various organs and structure of the body. These wheels of nerves are called plexuses which are an intricate inner communication between the funiculi of adjacent nerve.[1] In many scriptures *chakras* are considered as mere electromagnetic waves but then a question arise if an electromagnetic current can flow without a media in such a polar atmosphere of human body? In our understanding spinal cord and sympathetic chains are these main *nadis* in which energy travel and chakras are the neurovascular plexuses through which this energy is radiated in the concerning areas.

In *Satchakra nirupana, manipura chakra* is defined as it have triangular fire region in centre surrounded by morning sun like hue and in periphery it is radiates as bluish black cloudy colour which can be directly correlated with vessels and nervous arrangement in abdominal region as coeliac plexus and lumbar plexus lies in centre surrounded by emerging superior mesenteric, inferior mesenteric and coeliac vessels and in periphery on outer margin venous arcade can be seen so the colour symptomatology can be understood by anatomical correlation. This anatomical concept is the base for understanding functions of *manipura chakra*.

In *Hath Yoga Pradipika* many *asana, pranayama, bandhaa* and *mudra* are mentioned with *chakra* as point of action. *Uddiyana bandha* is only *bandha* which directly affect *nabhi chakra (manipura chakra)* so the name given to it. *Bhastika pranayama* exerts the action on umbilical region and affect. (Hath Yoga Pradipika, 1914) besides these many *asana e.g. pavanamuktasana, paschimottanasana, mandukasana* etc and *pranayamas* perform their action through umbilical vicinity, seat of *manipura chakra* (Light of yoga, 1979). Coeliac plexus is the largest major autonomic plexus and sited at the level of 12th thoracic and 1st lumbar vertebra. It is dense network uniting two large coeliac ganglia and surrounds the coeliac artery and root of the superior mesenteric artery. The plexus and ganglia are joined by greater and lesser splanchnic nerve and branches of vagus and phrenic nerve. The plexus extends as numerous secondary plexuses along adjacent arteries and give rise to phrenic, splenic, superior mesenteric, hepatic, suprarenal, renal, gonadal, superior and inferior hypo gastric, pelvic and many small plexuses. Every petal can be considered as small plexus in that area i.e. mesenteric plexus, pancreatic plexus, renal plexus, adrenal plexus, spleen plexus etc (Gray's anatomy-39th edition, 2000).

Site of coeliac plexus and lumbar plexus may be said as the site of *Manipura Chakra* because this is not only the region where nerves form coalition but arteries and veins also form plexuses and these all in collaboration regulate whole digestive system which is actually the base of wholesome body and brain.

Beyond the spiritual effect of *yoga* therapeutic effect on materialistic bdoy is also an important concern. Effect of any *yoga* practice is two types physical and psychological, physical affect is through *chakra* either major or minor. If the major *chakra* is stimulated wider range of reaction is seen while minor *chakras* situated in all joints and between major *chakra* produce a short term effect. Thus *yoga* according to *tantric* anatomy effect on *chakras* and *mana*, they further stimulate nervous and hormonal reaction on the concerning viscera as well as generalized effect on whole body.

Several article and literature review has been conducted all over the world for the evaluation of the effect of *yoga* in different specific medical conditions e.g. Diabetes, pulmonary disorders, obesity, Irritable bowel syndrome, metabolic syndrome, menopause, kidney disorder, cancer etc. Most of the studies have concluded that yoga either directly beneficial in disease prognosis or enhance the quality of life.

Ṣatchakra and diabetes

Studies show a dignified data proving beneficial effect *asana* and *pranayama* in improving blood sugar and insulin leve in type 2 DM.

Some studies have taken only *asanas* as intervention. Malhotra V *et al*., selected 20 NIDDM subjects (mild to moderate diabetics) in the age group of 30-60 years to practice 13 specific *Yoga asanas* for 40 days including *pashimottanasana, pawanmuktasana*. The results indicate that there was significant decrease in fasting glucose levels from basal 208.3 +/- 20.0 to 171.7 +/- 19.5 mg/dl and one hour postprandial blood glucose levels decreased from 295.3 +/- 22.0 to 269.7 +/- 19.9 mg/dl (Malhotra V *et al*., 2000) According to Chays MS *et al*., *yoga* also increase insulin sensitivity in type 2 DM significantly (yoga 7.82 [2.29] control 4.86 [11.97] (mg/[kg.min])/(micro/ml), p less than 0.001). (Chaya MS *et al*., 2000) This could be justified as an important step in whole mechanism. In another article Manjunatha S used set of *asanas* in diabetes patient to specify more influential posture in diabetic patients, and found OGTT test and serum insulin level more significantly changed in *ṣatchakra* affecting *yoga (pawanamuktasana)* group (Manjunatha S, 2000).

Many other authors used *asana* and *pranayama* both in DM2 patient, and compare the effect with control group, registered them together more promising (Savita singh *et al*., 2000) Viveka P *et al*., applied on group patients a comprehensive yogic breathing programm for 3 days. This course included yogic movements and postures (*asanas*), relaxation practices, meditation. Patients underwent 1 h of long group breathing technique, which included three stages of *pranayama,* three rounds of 20 each of *bhastrika*, three times Om chanting and *sudarshan kriya* followed by rest in supine position. There was a decrease of mean FBS by 3.5 ± 33.27 mg/dL in the yoga group (P=0.85). The mean post-prandial blood sugar (PPBS) decreased by 9.65 ± 42.72 mg/dL in the *yoga* group (*P*=0.40). There was a decrease of 0.026 ± 1.48% in the mean glycated hemoglobin (HbA1c) in the *yoga* group (*P*=0.79). Although there was a trend toward improvement in glycemic control in patients practicing *yoga* and taking standard treatment compared with those taking standard treatment alone, this improvement was not statistically significant (Viveka P *et al*., 2002).

Yoga affecting *shatchakra* not only improves all glycemic indexes but also increase the quality of life in all aspect. Various studies have been done in associated disorder and health aspects in diabetic patients. *Yoga* training including *bhastrika pranayama* in 15 peri-menopausal patients receiving standard medical treatment for type 2 DM has shown significant (*P*<0.01) decrease in fasting and postprandial blood glucose levels [FBG (*P*=0.0035] by 20.62% from 160.07 ± 15.65 to 127.07 ± 10.24 mg/dl, PPBG (*P*=0.0012) by 14.52% from 244.20 ± 17.12 tp 208.73 ± 16.07 mg/dl] as well as low density lipoprotein.

The decrease in total choloesterol, triglycerides, and very low density lipoprotein and increase in high density lipoprotein was also statistically significant (*P*<0.05) (Madanmohan *et al*., 2001) In another study intervention with *yoga* for a period of 3 months the diabetic patient study group showed a decrease in total cholesterol, triglycerides and LDL, with an improvement in HDL (Shantakumari *et al*., 2003) In patients of diabetes pulmonary function and cardiovascular function also improve with these *yoga* practice (Singh S *et al*., 2004, Malhotra V *et al* ., 2002).

In a interesting study Markerman vizcaino *et al*., however stated that *hatha yoga* shown no significant change in glucose control or physiological stress, but found significant change in perceived stress, state anxiety and self-care behaviour (Markerman vizcaino *et al*., 2003). Diabetes is a growing worldwide problem so conventional and accessible treatment is demand of time, specific yoga practices showing promising

effect could be a good alternative for diabetes patients. Some population survey also dignified beneficial effect of *yoga* in diabetic patients (Gina K Alexender *et al*., Aswathy Sreedevi, 2003).

Ṣatchakra and IBS

Irritable bowel syndrome (IBS) is a common yet poorly understood functional bowel disorder. Comparision between studies which may provide further information is often difficult due to inconsistencies in the experimental protocol and the nonstandard ways in which data have been presented. Therefore, only few studies meet the inclusion criteria. *Yoga* affecting *manipura chakra* in IBS is well complimen-ted on both physical and psychological level.

Taneja I *et al*., study indicates a beneficial effect of yogic intervention over conventional treatment in diarrhoea-predominant IBS. The conventional group was given symptomatic treatment with loperamide 2-6 mg/day for 2 months, and the yogic intervention group consisted of a set of 12 *asanas* (yogic poses including *pawanmuktasana* and *paschimottanasana*) along with *surya nadi pranayama* (rightnostril breathing) two times a day for 2 months. Two months of both conventional and yogic intervention showed a significant decrease of bowel symptoms and state anxiety. This was accompained by a increase in electrophysiologically recorded gastric activity in the conventional intervention group and enhanced parasympathetic reactivity, as measured by heart rate parameters, in yogic intervention group (Taneja I *et al*., 2004).

In a article Kuttner L *et al*., tested *yoga* in the adolescents group for IBS, adolescents found the *yoga* to be helpful to manage their IBS When the pre and post intervention data for the two groups were combined, there was a significant reduction in reports of gastrointestinal symptoms ($t[1,24]=3.15$, $P<0.01$] and a trend for lower levels of emotion-focused avoidance ($t[1,24]=2.82$, $P=0.10$) following participation in the *yoga* intervention (Kuttner L *et al*., 2000).

Ṣatchakra and obesity

Abdominal obesity has been suggested to be associated with over-stimulation of the hypothalamic pituitary-adrenal (HPA) axis (Rosemond *et al*., 1998, Bjorntorp P *et al*., 1997) due to chronic stress and altering diurnal cortisol secretion. Abnormal regulation of the HPA axis and perceived stress-dependent cortisol levels are strongly related to perturbations of the endocrine axis as well as abdominal obesity with metabolic abnormalities.

A growing number of research studies have shown that *hatha yoga* can improve strength and flexibility, and may help control physiological variables such as blood pressure, lipids, respiration, heart rate and metabolic rate to improve overall exercise capacity (Ray US *et al*., 2001, Tran MD *et al*., 2001).

In their research paper S Dhananjai *et al*., have documented effect of implementation of a set of *yoga* techniques daily in healthy subjects [in the form of *asana* (postures), deep relaxation technique, *pranayama* (breathing techniques) and meditation] and also compared with aerobic exercise. On comparing the levels within the groups (i.e., between periods), all parameters in *Yoga* group showed significant ($P<0.001$) decrease from day 30 while Aerobic group showed improvement from day 90. Similarly, comparing the levels between the groups, the weight, WC, HC and depression decreased more significantly ($P<0.01$ or $P<0.001$) at day 90 and day 180 in *yoga* group than Aerobic group. The depression also decreased significantly ($P<0.01$) in *yoga* group than in Aerobic group at day (S Dhananjai *et al*., 2003, Janice K. Kiecolt-glaser, 2002).

Janice K. Kiecolt-Glaser *et al*., analyze the adiponectin and leptin in *yoga* practitioner and novice, revealed a borderline effect of *yoga* expertise, $P=.08$; experts average adiponectin levels were 28% higher than novices across the three visits. Frequency of self-reported *yoga* practice showed significant negative relationships with leptin; more weeks of *yoga* practice over the last year, more lifetime *yoga* sessions, and more years of *yoga* practice were all significantly associated with lover leptin, with similar findings for the adiponectin to leptin ratio (Janice K. Kiecolt-glaser, 2002).

Yoga appears to be an appropriate and potentially successful intervention for weight maintenance, prevention of obesity. These findings suggest that even a short-term *yoga*-based lifestyle intervention may be an important modality to reduce the risk for CVD as indicated by weight loss, reduction in systolic blood pressure, an increase in adiponectin, and decrease in IL-6 in overweight and obese men (Sarvottam K *et al*., 2002).

Conclusion

Overall, the studies on the effects of *yoga* (concerned with *manipura chakra*) seems to indicate that, in both healthy and diseased populations, *yoga* may be as effective or better at improving a variety of health-related outcome measures including blood glucose, blood lipids, oxidative stress, Pulmonary functions and electrogastrography

in type-2 diabetes, IBS and obesity. Furthermore, *yoga* appears to improve subjective measures of fatigue, pain and sleep in healthy and ill populations. However, future clinical trials are needed to further examine specific *Yoga affecting manipura chakra*, particularly how these modalities effects on physical level both for *ayurvedic* and modern point of view. Additional studies are needed to distinguish between the different types of *yoga* for different diseases and their various techniques. These studies need to use rigorous study methodologies, including the use of larger sample sizes, randomized samples, and blinding of researchers and also to specify the anatomical structure effected.These studies need to be replicated in a variety of populations, both sick and well, as the effects may vary depending upon the health status of the population.

Notes and References

Amita S, Prabhakar S, Manoj I, Harminder S, Pavan T *et al*.,. Effect of *yoga*-nidra on blood glucose level in diabetic patients. *Indian J Physiol Pharmacol.* 2000; 53(1): 97-101

Aswathy Sreedevi, Unnikrishnan Ambika G. and Sanjay Kalra. Effective management of type 2 DM in India: Looking at low-cost adjunctive therapy. *Indian J Endocrinol Metab,* 2001; 17(1): 149-152

Athavale VB, Ayurvediya rachana sharira. Chukhambha Sanskrit Publication; Delhi, 2000

Avalon Arthur, The Serpent Power (Shat-*Chakra* Nirupana and Paduka Panchaka). Great Russell street London 1919 page edition chapter

Bjorntorp P. Neuroendocrine factors in obsity. *J Endocrinol.* 1997; 155: 193-5.

Brands MM, Purperhart H, Deckers-Kocken JM. A pilot study of *yoga* treatment in children with functional abdominal pain and irritable bowel syndrome. *Complement Ther Med.* 2001; 19(3): 109-14.

Chaya MS, Ramakrishnan G, Shastry S, Kishore RP, Nagendra H, Nagarathna R, Raj T, Thomas T, Vaz M, Kurpad AV Insulin sensitivity and cardiac autonomic function in young male practitoners of *yoga. Natl Med J India.* 2002; 21(5): 217-21.

Da Silva GD, Lorenzi-Filho G, Lage LV. Effects of *yoga* and the addition of Tui Na in patients with fibromyalgia. *J Alternat Complement Med.* 2004; 13: 1107-113.

Editor Edition Agnivesa, Caraka Saṇhita by Kasinaththa Shastri and Caturvedi. Chapter *Caukhambha Sanskrit Series* Office, Varanasi, 4th Edition, 1994; page

Gina K. Alexander, Ann Gill Taylor, Karen E. Innes, Pamela Kulbok, and Terry K. Selfe. A Review of the Social Determinants of Physical Activity. *Fam Community Health.* 2000; 31(3): 228-239.

Gray, Standring Susan-Editor-in-Chief, Gray's Anatomy chapter - Published by Elsevier Churchill Living stone, Printed in Spain 39th Edition. 2005

Greenhalgh T. How to read a paper: Assessing the methodological quality of published papers. Br Med J 1997; 315: 305-308

Innes KE, Vincent HK. The Influence of *yoga*-based programs on risk profiles in adults with type 2 diabetes mellitus: A systematic review. *Evid Based Complement Alternat Med.* 2004; 4: 469-86. Iyengar B.K.S., Lights on *Yoga* chapter by Schocken Book, Newyork, 1979

Jablon SL, Naliboff BD, Gilmore SL, Rosenthal MJ. Effects of relaxation training on glucose tolerance and diabetic control in type II diabetes. *Appl Psychophysiol Biofeed.* 1997; 22: 155-69.

Janice K. Kiecolt-Glase, Lisa M. Christian, and Ronald Glase. Adiponectin, Leptin and *Yoga* Practice. *Physiol Behav.* 2002; 107(5): 809-813.

Kuttner L, Chambers CT, Hardial J, Israel DM, Jacobson K, Evans K. A randomized trial of *yoga* for adolescents with irritable bowel syndrome. *Pain Res Manag.* 2001; 11(4): 217-23.

Lorenzo A Gordon, Errol Y Morrison, Donovan A McGrowder, Ronald Young, Yeiny Terry Pena Fraser, Eslaen Martorell Zamora, Ruby L Alexander-Lindo, and Rachael. Irving. Effect of exercise therapy on lipid profile and oxidative stress indicators in patients with type 2 diabetes. *BMC Complement Altern Med,* 2004; 8: 21.

Lynsey R Harris and Lesley Roberts. Treatments for irritable bowel syndorme; patients' attitudes and acceptability. *BMC Complement Altern Med.* 2004; 8: 65.

Madanmohan, Bhavanani Ananda Balayogi, G Dayanidy, Zeena Sanjay Basavaraddhi Ishwar V, Effect of *yoga* therapy on reaction time, biochemical parameters wellness score of peri and post-menopausal diabetic patients. *Int J Yoga.* 2002; 5(1): 10-15.

Malhotra V, Singh S, Singh KP, Gupta P, Sharma SB, Madhu SV, Tandon OP. Study of *yoga asanas* in assessement of pulmonary function in NIDDM patients. *Indian J Physiol Pharmacol.* 2002; 46(3): 313-20.

Malhotra V, Singh S, Tandon OP, Sharma SB. The beneficial effect of yoga in diabetes. *Nepal Med Coll J,* 2004; 7(2): 145-7.

Manjunatha S, Vempati RP, Ghosh D, Bijlani RL. An investigation into the acute and long-term effects of selected yogic postures on fasting and postprandial glycemia and insulinemia in healthy young subjects. *Indian J Physiol Pharmacol.* 2004; 49(3): 319-24.

Markerman vizcaino. Hath yoga practice for type 2 dibetes mellitus: A pilot study. *International Journal of Yoga Theraphy.* 2003; 23(2).

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol. 4, No. 7 (170-173) July - Dec. 2016 ISSN 2277-4351

Book-Review

Book - Warfare in Ancient India

Reviewer : Dr. Shashi Tiwari

Former HoD of Sanskrit Department,
Maitreyi College, University of Delhi
& General Secretary , WAVES- India

Book name : Warfare in Ancient India - In Historical Outlines ; Author: Dr Soma Basu; Publisher: D K Printworld , New Delhi ; Year: 2014.

The book 'Warfare in Ancient India - in Historical Outlines' authored by Dr Soma Basu, Associate Professor, School of Vedic Studies, Rabindra Bharati University, Kolkata, is an important research work which is related with the areas of Vedic Studies, Ancient Indian History, Ancient Defence Sciences, Iconography and military associated disciplines. It is a detailed study of defensive policies of the Vedic and ancient Indian people. This work is done by the learned researcher in many years with the help of renowned scholars and recognized literary sources. The author has visited certain museums, ancient forts, and collection of armaments for making herself more practical and observant with ancient weapons and equipments.

A select bibliography of original texts and reference books given in the appendix reflects the wide time phase of Indian history, beginning from Pre-Vedic to sixth century AD. Specially The Vedic literature, Rāmāyaṇa , Mahābhārata, Buddhist texts, Manusmṛti, Purāṇas, Kāmandaka's Nṛtisāra, Kaum-ilya's Arthśāstra, Someśvara's Mānasollasa, Jātakas are important sources for the study of subject under discussion.

In the preface, the author has expressed some important aspects of this book particularly the relevance of this publication. She has written, "Although there are some works on warfare in ancient India by VRR Dikshitar, GT Date, BK Majumdar, SD Singh, and others, a more comprehensive work on science and organization, with regard to defence policies, construction of fortresses, manufacture of arms and ammunitions, commissariat, the espionage system, the rules of

aggression and defence; the technical matters and war ethics, based upon a comparative study with the modern systems and a thorough comprehension of Sanskrit and Sanskrit sources, is lacking." The book also analyses the diplomatic and economic factors in aggressive designs, one of the major elements of the political history of early India. Being an addition to ancient Indian studies, the book is kept by the publisher in series entitled 'Reconstructing Indian History and Culture', as number 35.

Warfare consists of weapons, struggle, defence, and survival. Human beings have a tendency of possession and protection. So wars and conflicts are natural, but gradually man has developed it as an art and craft in ramifications so much so that it came to constitute a most important part of statecraft and administration of justice. Later on, a special warrior class was introduced in the society. For warriors, fighting for right cause was glorified as an act of righteousness '*dharma*'. For them death at war was also glorified. Thus, warfare is an important subject of history but it is always relevant to study for understanding human kind and its behavior particularly in dealing with its enemies. Mostly in ancient times, wars have been fought for chastising the enemy and expansion of state-boundary by defeating neighbors. Indian literature throws sufficient light on types of wars, arrangement of army, weapons etc. with the causes, purposes, and effects of wars. However, systematic and analytic study of all such references is done first time in the present book and this makes the research done in the book more valuable. This volume has ten chapters where pre-historic, Vedic, post-Vedic, Mahābhārata, Jain, and Buddhist times are discussed separately most of the time with factual references.

Pre-Historic and Proto- Historic period are studied on the basis of archaeological evidence when man knew the use of stone only and not of metals like copper or iron. Sometimes use of bones and wood are also proved. At that age, either to get or hunt animal or to hurt another man were the purpose of sharpened stone implements. Harappan civilization is discussed in this context, which had its fortifications and was militant and centralized. Harappan people had wheeled vehicles and war-weapons made of metals and stones. Learned author has mentioned period of these civilizations but has decided not to try to penetrate on the Aryan invasion issue in this context. I appreciate this view, as focus on warfare is the theme of the research here. Description of pre-historic and Harappan defence equipments makes the introductory role of the whole thesis, hence these chapters are useful even if they have archaeological basis.

The major portion of the book deals with Vedic warfare. The Vedic people were predominantly pastoral warriors who reckoned wealth in terms of cattle and horses. According to Ṛgveda pastoral Rigvedic people destroyed some cities and also some dams and barrages indispensable for agriculture and by doing so they knocked down the basic foundation of the economy of civilized people. Several aspects of Vedic warfare can be studied through Vedic evidences. How did Aryans lead their invasions? What was the structure of their army? How were the raids carried out? How were the weapons used? What were the weapons known and made of ? Warlike traits of some major deities such as Indra, Rudra, Soma, Agni, Maruts, Viṣṇu, Bṛhaspati, Kṛṣṇa, and Pūṣan with their weapons and fights ; and various accounts furnishing details regarding the wars and quarrels held between *deva*s and *asura*s and their causes and results are dealt with required reference and scholarly opinions. Vedic battles had historical as well as symbolical interpretations according to the author and therefore the main propose of warfare traits of Vedic deities should be understood as supremacy among others.

Use of chariots drawn mostly by horses was a common feature as this study describes details of war-chariots as far as possible. Different parts of chariots and its decoration make such study comprehensive. Similarly, detailed description of different arms and armours, with their names, metal and usage presents a proud picture of Vedic scriptures and defensive arts. Concept of forts in Vedic texts has been discussed separately in sixth chapter. It is an interesting topic because some important Sanskrit texts are also consulted here simultaneously to find out the development of such construction and the ways to protect them from enemy. Such analysis could be helpful to know the ancient ways of public defence. 'Arrays' entitled subheading deals with Vedic concept of army, and its various positions such as *senānī,* and *rājanya*. Here, some later texts as Agni Purāṇa, Arthaśāstra, and Manusmṛti are also mentioned to explicate further growth of this concept.

It is interesting that post-Vedic literature generally expands Vedic ideas presented in *mantras*. It is done by well-recognized ancient scriptures. Therefore, the learned author has dealt with 'warfare and diplomacy' as Post-Vedic concept in seventh chapter. War and diplomacy are considered inter-related for victory by civilized people. Diplomacy is mainly concerned with the *artha* view of life. Kaum-ilya and Manu had mentioned rules for battle and ways to destroy enemy. Some concept such as *guṇas*, *upāyas, āsanas,* and *rājadharma* are discussed under the institution of diplomacy.Eighth chapter of the book covers

Mahābhārata war and its various dimensions including war- strategy, kind and use of weapons, horses, elephants and chariots. Accounts of this epic present a wide picture of warfare with classification of troops in all details. Many amazing battle-arrays (*vyūha*) are described in this context.

Ninth chapter deals with ancient Indian weapons as mentioned in ancient Sanskrit texts and Jain Canons. It is an important and minute study to know great weapons which were used in those remote days. Kāmandaka Nītisāra, Mānasollāsa, Tamil epic Kural are main source here for elaborating valuable information on war, fort and tactics.

To me the Appendix of the book is the most attractive part of this research work. Under this title, an elaborate study is done of warlike deities, and their weapons on the basis of Iconography with special reference to Buddhist deities. Weapons of the deities are not always to fight but they illustrate their activities also. Here hidden meaning of the weapons, emblems and symbols of Vedic, Purānic and Buddhist deities are described with all authenticity and textual references. It seems that some iconic features of a few famous deities emerged here for the first time by the perception of the author. Readers interested in knowing the features of deities in length may found this part of the book very useful and illustrative.

Finally, it can be said that 'Warfare of Ancient India-in Historical Outline' is a book that historians and Sanskritists should read to understand our ancient scientific knowledge of defence-related matters. In addition, the general readers would feel proud while going through this book that what truly India and Indians were having as a glorious civilization. The book proves that India is not only an ancient country but is a cultural entity from the very beginning. It has ethics and regulations while dealing with enemies too. Therefore, it is able to manage intense differences on the planes of culture, philosophy, language, religion and thought. Our great seers, thinkers and ancestors have not left any stone unturned to maintain peace and harmony and weapons too were meant for defence and welfare.

✦✦✦

पत्र एवं सम्मतियां

Dr. S.R. Verma
Head
DEPARTMENT OF PHYSICS
D.B.S. (P.G.) COLLEGE DEHRADUN - 248001

सेवा में
परम आदरणीय प्रो० डी० सी० शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

महोदय,

आपका भेजा हुआ रिसर्च जनरल तथा पत्र प्राप्त हुआ। हार्दिक धन्यवाद। 'वैदिक वाक् ज्योतिः' रिसर्च जनरल की प्रति का अवलोकन कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। यह आपके अथक प्रयासों के परिणाम का अत्यन्त सुन्दर स्वरूप है। इस जर्नल को अधिकाधिक गुणवत्तायुक्त बनाने को मैं अपना सौभाग्य समझूंगा तथा इसके लिए मैं सदा उपलब्ध हूं।

सधन्यवाद

भवदीय SRVerma
डॉ० एस० आर० वर्मा

2 - एकता एवेन्यू
राजपुर रोड
देहरादून।
M - 9760783384
email - srvastro@rediffmail.com

प्रो० मानसिंह,
६०।३, मुंशी प्रेमचन्द मार्ग,
नवीन भरत नगर,
रुड़की - २४७ ६६७
(जनपद- हरिद्वार)
उत्तराखण्ड

०१-०६-२०१६

प्रिय प्रो० शास्त्री जी,

सस्नेह नमस्कार।

आपके द्वारा प्रेषित "वैदिक वाग्-ज्योतिः" नाम्नी शोधपत्रिका का संयुक्ताङ्क (जन० २०१४-जून २०१५) प्राप्त हुआ। एतदर्थ आतिशय धन्यवाद।

पत्रिका का आकार, मुद्रण एवं सज्जा सभी उत्तम तथा आकर्षक हैं। जहाँ तक प्रकाशित लेखों की गुणवत्ता का प्रश्न है, वह तो लेखकों के विषयगत वैदुष्य पर अवलम्बित होता है; अतः उसमें उच्चावच स्वाभाविक है। इस सुरुचिपूर्ण प्रकाशन के लिए हार्दिक वर्धापन!

आगामी अङ्क में प्रकाशनहेतु अपना "स्कम्भो नाम ज्येष्ठं ब्रह्म" शीर्षक लेख प्रेषित कर रहा हूँ। आशा है आपको रुचेगा। कृपया मन्त्रों के मुद्रण में स्वराङ्कन की व्यवस्था अवश्य करें।

आशा है आप सपरिवार कुशली हैं।

धन्यवादपूर्वक,
भवदीय मङ्गलाकाङ्क्षी,

(मानसिंह)
९६५५८५५०८२

वेद विभाग की विशेषताएं

1. विश्व में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का वेद-विभाग एकमात्र ऐसा विभाग है जहां ऋषि दयानन्द की मान्यताओं के अनुसार वेद के पठन-पाठन की व्यवस्था है।
2. इस विभाग में अनुसंधान के समय वैदिक ज्ञान की प्रासंगिकता पर विशेष बल दिया जाता है।
3. यहां छात्रों को आधुनिकता से जोड़ते हुए वेदों का अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसंधान तथा वेद मंत्रों के अर्थों पर विशेष बल दिया जाता है।

वेद विभाग के प्राध्यापकों द्वारा वेदविषयक लिखे गए उत्कृष्ट ग्रंथ

1. **पं. शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ**- ऋग्वेद भाष्य (7.61.3 से 8.29), उपनिषद् भाष्य, त्रिदेव निर्णय, श्राद्ध निर्णय, ओंकार निर्णय, वैदिक इतिहासार्थ निर्णय, वैदिक रहस्य (तीन भाग), वैदिक पीयूष बिन्दु, वेद सुधा, छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य।
2. **पं. विश्वनाथ विद्यालंकार**- सामवेद भाष्य, अथर्ववेद भाष्य, वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा, वैदिक जीवन, वैदिक गृहस्थाश्रम, आध्यात्मिक जीवन, ऋग्वेद परिचय, अथर्ववेद परिचय, शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयन-समीक्षा।
3. **पं. देवशर्मा 'अभय' विद्यालंकार**- वैदिक-विनय (3 भाग), ब्राह्मण की गौ, वैदिक ब्रह्मचर्य गीत, वेद-रहस्य (सीक्रेट ऑफ वेदाज का हिन्दी अनुवाद)।
4. **पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड**- भारतीय समाजशास्त्र, संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी कोष, हिम्स ऑफ सामवेद, द ऋग्वेद: एन इंगलिश ट्रांसलेशन्स ऑफ द कमन्ट्री द स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र, वेदों का यथार्थ स्वरूप, वेद भाष्यों का तुलनात्मक अनुशीलन, महर्षि दयानन्द और अन्य वेद भाष्यकार वैदिक ईश्वरवाद और वर्तमान विज्ञान, वैदिक संस्कृत: मदर - ऑफ ऑल लेंग्वेज।
5. **पं. बुद्धदेव विद्यालंकार**- यजुर्वेद भाष्यम् (आंशिक), अथर्ववेद भाष्यम् (प्रारम्भिक 58 मन्त्रों पर) शतपथ ब्राह्मण (प्रथम काण्ड भाष्य), ऋग्वेद मण्डल मणिसूत्र, ऋग्वेद का मणिसूत्र, सप्तसिन्धू सूक्त (अथर्ववेद 14 काण्ड का भाष्य), अथ मरुत् सूक्तम्, वेदों के सम्बद्ध में क्या जानो क्या भूलो? कायाकल्प, वैकदक अग्नि प्रकाश, भगवद्गीता समर्पण भाष्य, पंचयज्ञ प्रकाश।
6. **पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति**- उपनिषदों की भूमिका, वैदिक ईश्वरवाद, ईशोपनिषद् भाष्य।
7. **आचार्य रामनाथ वेदालंकार**- सामवेद भाष्य, वेदों की वर्णन शैलियां, वैदिक सूक्तियां, वेद मंजरी, वैदिक नारी, आर्ष ज्योति, वैदिक मधुवृष्टि, अथर्ववेद ज्योति, ऋग्वेद ज्योति, वैदिक शब्दार्थ विचार, वेदभाष्यकारी की वर्णन शैलियां, वैदिक वीर गर्जना।
8. **आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति**- वरुण की नौका, वेदोद्यान के चुने हुऐ फूल, वेद का राष्ट्रीय गीत मेरा धर्म, वैदिक अर्थ व्यवस्था, समाज का कायाकल्प, वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, वेद-भारतीय मनीषा के परिप्रेक्ष्य में।
9. **प्रो. सत्यव्रत 'राजेश'**- यम-यमी-सूक्त की आध्यात्मिक व्याख्या, वेदों में जीव और हिंसा एक विवेचन, पारस्कर गृह्यसूत्रम्, महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य में समाज का स्वरूप।
10. **प्रो रूपकिशोर शास्त्री**- समवेदीय ब्राह्मणों का दार्शनिक अध्ययन, वैदिक निरुक्ति व्युत्पत्ति कोश, संभलो नीच योनियों से, दयानन्द निरुक्ति कोष।
11. **प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री**- वैदिक उपमा कोश, ऋग्वेद में उपमा, वेद-मीमांसा एक परिशीलन, वैदिक भक्ति प्रकाश, वेदों का पढ़ना क्यों आवश्यक है?, वैदिक-पाठ, वैदिक-यज्ञ थैरॉपि।

Vaidika Vāg Jyotiḥ is a half yearly peer-reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar. Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Walkman 901 or 905, typed on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

Copyright © Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar.

The Advice and information in this Journal are believed to be true and accurate but the person associated with the production of the journal can not accept any legal responsibility for any errors or omissions that may be made. All disputes are subject to jurisdiction of the District Court Haridwar, uttarakhand only -***Editor in Chief***

Contact for :-

Submission of Manuscript

Chief Editor 'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Haridwar - 249 404 Uttarakahan, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com

Tel : +91-9410192541

http:/www.gkv.ac.in

For further information Mail to :

Prof. Dinesh Chandra Shastri

Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

Note : *For subscription and related enquiries feel free to contect Business Manager.*

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
July-December 2016

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed Research Journal on Vedic Studies

Aims & Objectives

1. *To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logical proof and arguments, in Shastras.*
2. *To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.*
3. *To publish the original Vedic findings.*
4. *To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes.*
5. *To accelerate Swāmī Dayānand Sarswatī's thoughts and opinions for clearing the illusions prevailing about Vedas.*
6. *To publish critical edition of work carried out on Vedas by citing the facts that originally existed in Vedic books, rarely available.*

उद्देश्य

1. विद्वानों द्वारा किये गये और सम्प्रति किये जा रहे वेद से सम्बन्धित भ्रमपूर्ण विचारों की शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्क तथा युक्ति के आधार पर समालोचना तथा तत्सम्बन्धी समाधान करना।
2. वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों को उद्घाटित करना।
3. वेद तथा वैदिक साहित्य से सम्बन्धित मौलिक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन करना।
4. वैदिक सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचनात्मक विशेषांक तैयार करना। जिनमें पूर्व लिखित एवं प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेखों/ग्रन्थों का भी उपयोग किया जायेगा।
5. वेद विषयक भ्रांतियों को दूर करने से सम्बन्धित स्वामी दयानन्द की विचारधारा को गति देना।
6. वेदविषयक ग्रन्थों की समीक्षा एवं अप्रकाशित अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन करना।